अलंकारदप्पण

अनुवादक
भँवरलाल नाहटा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
२००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला-९४

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन
प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर

अलंकारदप्पण

(प्राकृत में एक मात्र उपलब्ध जैन अलङ्कार ग्रन्थ)

अनुवादक
भँवरलाल नाहटा

व्याख्याकार
प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे

संपादक
प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
2001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला-९८

पुस्तक	:	**अलंकारदप्पण**
अनुवादक	:	भँवरलाल नाहटा/प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे
सम्पादक	:	प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर
प्रकाशक	:	**पार्श्वनाथ विद्यापीठ,** आई० टी० आई० रोड, करौंदी, वाराणसी- २२१००५
दूरभाष	:	०५४२ - ३१६५२१, ३१८०४६
फैक्स	:	०५४२ - ३१८०४६
प्रथम संस्करण	:	२००१
मूल्य	:	१२५.०० रूपये मात्र
अक्षर सज्जा	:	राजेश कम्प्यूटर, जयप्रकाश नगर, शिवपुरवा, वाराणसी। दूरभाष : (०५४२) २२०५९९
मुद्रक	:	वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी।
©	:	**पार्श्वनाथ विद्यापीठ**
ISBN	:	८१-८६७१५-५६-८

Pārśwanātha Vidyāpīṭha Series : 98

Book	:	**Alaṁkāradappaṇa**
Translated by	:	Bhanwarlal Nahata/ Prof. Suresh Chandra Pande
Editor	:	Prof. Bhagchandra Jain Bhaskar
Publisher	:	**Pārśwanātha Vidyāpīṭha** I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi- 221005
Phone	:	0452 - 316521, 318046
Fax	:	0542 - 318046
First Edition	:	2001
Price	:	125.00 Only
Type Setting	:	Rajesh Computers, Jai Prakash Nagar, Shivpurwa, Varanasi. Phone : 0542-220599
Printed at	:	Vardhamana Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैन साहित्य बहुविध और विशाल है। गंभीर और मनोरंजक है। पाण्डित्यपूर्ण और लोकनीतिक है। सैकड़ों ग्रन्थ भण्डारों में वह अभी भी सुरक्षित है। पर कुछ ऐसे भी ग्रन्थभण्डार हैं जो न सुरक्षित हैं और न दूसरों के लिए प्रवेश्य हैं। ऐसे ग्रन्थ भण्डारों में कितनी अप्रकाशित कृतियाँ छिपी हुई पड़ी हैं, नहीं कहा जा सकता। उन्हें उपलब्ध कराया जा सके तो ग्रन्थ भण्डारों के कार्यकर्ताओं का एक बहुत बड़ा योगदान होगा। पार्श्वनाथ विद्यापीठ ऐसे ही प्राचीन ग्रन्थों को सम्पादित कर अनुवाद के साथ प्रकाशित करने की योजना लिये हुए है। यह योजना अन्य योजनाओं के साथ समान्तर रूप से चल रही है।

अलंकारदप्पण अज्ञातकर्तृक प्राकृत रचना है जिसे श्री भंवरलाल नाहटा ने मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया था सन् १९६८ में। उसे ही प्रोफेसर सुरेशचन्द्र पाण्डे ने पुनः अनुदित एवं व्याख्यायित किया है। इसका कुशल सम्पादन प्रोफेसर भागचन्द्र जैन ने किया है। अतः मैं उन सभी का आभारी हूँ। साथ ही डॉ० विजय कुमार भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने प्रेस सम्बन्धी दायित्व का पूर्ण निर्वहन किया है। सुन्दर अक्षरसज्जा के लिए राजेश कम्प्यूटर एवं ग्रन्थ मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय को भी धन्यवाद देता हूँ।

दिनांक : 15-03-2001

भूपेन्द्रनाथ जैन
सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

'अलंकारदप्पण' लगभग दसवीं शती की लिखी हुई कृति है। जिसके रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। प्राकृत गाथाओं में निबद्ध यह रचना जैसलमेर भण्डार से प्राप्त (नं० ३२६) एक मात्र ताडपत्रीय प्रति के आधार पर सर्वप्रथम **श्री भंवरलाल नाहटा** ने हिन्दी अनुवाद सहित मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में सन् १९६८ में प्रकाशित किया था। उसी का अनुवाद प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे ने टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत संस्करण में प्रस्तुत किया है ।

अलंकारदप्पण के रचयिता को "सुईदेवियं च कव्वं च पणविअ पवरवण्णट्ठं" (गाथा १) में प्रयुक्त श्रुतिदेवी शब्द के आधार पर यह सिद्ध करना उचित नहीं लगता कि श्रुति शब्द का प्रयोग चूँकि वैदिक संस्कृति में ही होता है इसलिए लेखक को वैदिक परम्परा का होना चाहिए।

सुइदेवि (श्रुतिदेवी) का सम्बन्ध श्रुतागम से है और श्रुत से ही श्रुति बना है। जैन ग्रन्थों में 'सुई' शब्द शुचि और श्रुति (आगम) दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अभिधानराजेन्द्र कोष में इसका स्पष्ट उल्लेख है। 'सुइं हियकरिं' जैसे अनेक उल्लेख आवश्यक (४.२४) आदि अगमों में आते ही हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि का धम्मस्स श्रवणं श्रुतिः श्रूयते वा (पृ० ९८) उल्लेख भी इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है। जैन शिल्प में सरस्वती की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति कुषाण काल (१३२ ई०) की है जो राज्य संग्रहालय, लखनऊ में संग्रहीत है। इसका लाक्षणिक स्वरूप आठवीं शती के बाद ही विकसित हुआ है। अतः यहाँ 'सुइदेवि' का सम्बन्ध जैन श्रुतदेवी या श्रुतिदेवी से ही होना चाहिए और अलंकारदप्पण का रचयिता भी जैन होना चाहिए। उसमें आये विष्णु के उल्लेख से इस अनुमान पर कोई असर नहीं पड़ता।

प्राकृत भाषा में निबद्ध अलंकारशास्त्र का यह प्रथम ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि इस पर भामह और दण्डी का प्रभाव अधिक दिखाई देता है फिर भी अलंकारों के स्वरूप, संख्या, भेद-प्रभेद आदि के विषय में रचयिता ने अच्छा चिन्तन प्रस्तुत किया है जिसे हम संक्षेप में इस प्रकार अंकित कर सकते हैं।

अलंकार शोभावर्धक तत्त्व हैं, काव्य रूप शरीर को अलंकृत करने वाले साधक हैं। शब्द और अर्थ के माध्यम से काव्य को वे इतना आकर्षक बना देते हैं कि पाठक हतप्रभ-सा हो जाता है। शायद इसीलिए काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र कहा गया है। रस उसकी आत्मा है, गुण अलंकार, रीति बाह्य शोभाधारक धर्म हैं तथा शब्द और अर्थ उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवयव हैं। दण्डी की काव्य की परिभाषा इस संदर्भ में द्रष्टव्य है- काव्य शोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते (काव्यादर्श, २.१)। वामन और आनन्दवर्धन भी दण्डी के पीछे चलते दिखाई देते हैं। अलंकारदर्पण का रचयिता भी अलंकारवादी है जो मानता है कि अलंकार श्रव्य काव्य को सुन्दर बना देते हैं और कुकुवियों के भी काव्य को अलंकृत कर देते हैं-

सव्वाइं कव्वाइं सव्वाइं जेण होंति भव्वाइं ।
तमलंकार भणिमोऽलंकारं कविकव्वाणं ।। गा २

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ रसवादी हैं। वे इसके साथ गुणों का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य के साथ गुणों का सम्बन्ध नित्य है और अलंकारों का सम्बन्ध अनित्य है। पर अलंकारदर्पणकार प्रसादगुणयुक्त काव्य को भी अलंकारहीन होने पर निष्प्रभ मानते हैं (गाथा.३)। पण्डितराज जगन्नाथ ने अलंकार को काव्य की आत्मा मानकर उसे रमणीयता प्रयोजक धर्म माना है। अलंकारवादी और रसाभिव्यंजनावादी कवियों की भी दृष्टि में अलंकार शोभाकारक धर्म हैं पर रसवादियों के अनुसार उसका प्रधान लक्ष्य है शब्दार्थ का शोभावर्धन करते हुए रस का उपकार करना।

अलंकारदर्पणकार "सौन्दर्यमलंकार:" के ही पोषक हैं जहाँ वे कहते हैं कि जिस प्रकार लोगों के समक्ष प्रदर्शित प्रसन्न और अत्यन्त सुन्दर भी कामिनी का मुख अलंकार रहित होने से निष्प्रभ लगता है उसी प्रकार प्रसाद गुण युक्त काव्य भी लोगों के समक्ष पढ़ा जाता हुआ उपमादि अलंकार रहित होने से फीका लगता है-

अच्चंत सुंदरं पि हु निरलंकार जणम्मि कीरंतं ।
कामिणिमुहं व कव्वं होइ पसण्णं पि विच्छाअं ।। ३।।

अलंकार विरोधी अचार्यों ने भी अलंकारों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और उनके वैज्ञानिक वर्गीकरण एवं समकोटिक अलंकारों में अन्तर स्थापन करते हुए सीमानिर्धारण किया है। चित्रविधान एवं बिम्बविधान में तो अलंकारों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। रसवादी आचार्यों ने भी उनके महत्त्व को स्वीकारा ही है।

परवर्ती काल में अलंकारों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार किया जाने लगा। उनकी संख्या का भी विकास होता गया और आज तो यह संख्या १२५ को भी पार कर गई है।

भरत ने 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्' कहकर यमक को शब्दालंकार के नाम से अभिहित किया पर भामह ने स्पष्टत: उसे शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में वर्ग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभाजित कर दिया। तदनन्तर उद्भट ने छह और रुद्रट ने चार वर्गों में उन्हें समाहित किया। रुद्रट ने उभयालंकार जोड़कर तीन और रुय्यक ने उन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया - सादृश्य, विरोध, शृंखलामूलक, न्यायमूलक और गूढ़ार्थप्रतिमूलक। विद्याधर और विद्यानाथ ने अर्थालंकरों पर विशेष बल दिया। रुय्यक ने उसी वर्गीकारण को छह वर्गों में सुबोध रूप से विभाजित किया- सादृश्यवर्ग, औपम्यगर्भवर्ग, विरोधगर्भवर्ग, शृंखलाकारवर्ग, न्यायमूलकवर्ग, और गूढार्थ प्रतीतिमूलकवर्ग। आधुनिक युग में भी इस वर्गीकारण का प्रयास हुआ है पर वह सर्वसम्मत नहीं बन सका। अलंकारदर्पणकर ने ऐसा अपना कोई वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया।

भरत से अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ माना जा सकता है। उन्होंने रूपक की दृष्टि से चार ही अलंकार गिनाये हैं- उपमा, रूपक, दीपक और यमक । पर आगे उन्होंने लगभग ३६ काव्य लक्षणों का निर्देश दिया है। अलंकारों में तीन अर्थालंकार और यमक नामक एक शब्दालंकार का विवेचन किया है पर दीपक और रूपक के भेदों का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

वक्रोक्तिकार भामह ने अलंकारों की संख्या-३८ की पर वे हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को अलंकारत्व प्रदान नहीं कर पाये। किन्तु दण्डी ने उन्हें अलंकार का उत्तम भूषण मानकर उन्हें सार्थकता दी। उन्होंने अलंकार और गुण दोनों को काव्य का शोभाधायक तत्त्व मानकर उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा की। भामह और दण्डी की भांति उद्भट भी अलंकारवादी आचार्य रहे हैं, पर उन्होंने तीन अलंकारों को स्थान नहीं दिया-यमक, उत्प्रेक्षावयव और उपमारूपक। छेकानुप्रास, काव्यदृष्टान्त, संकर आदि जैसे कतिपय नये अलंकारों की उद्भावनाकर उन्होंने अलंकारों की संख्या ४१ कर दी और उन्हें छः वर्गों में विभाजित कर दिया।

रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन ने उपमा को प्रधान अलंकार मानकर उनकी संख्या ३२ कर दी और 'व्याजोक्ति' नामक नया अलंकार जोड दिया। रुद्रट अलंकारवादी होने पर भी इस सम्प्रदाय से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने अलंकारों की संख्या ६२ कर दी और अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभाजित कर दिया-वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष। कुन्तक ने इसे संकुचितकर उन्हें बीस की संख्या में समेटने का प्रयत्न किया। पर भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में उनकी संख्या ७२ कर दी। मम्मट ने अलंकार -विवेचन का परिष्कार करते हुए उनकी संख्या ६७ बतायी और सम, सामान्य, विनोक्ति एवं अतद्गुण को नये अलंकरों के रूप में प्रस्थापित किया। बाद में हेमचन्द ने ३३, वाग्भट्ट ने ३५, विश्वनाथ ने ८६, अप्पय दीक्षित ने १३३, और जगन्नाथ ने ७० अलंकारों का निर्धारण किया। अलंकार दर्पणकार ने मात्र ४४ अलंकारों की प्ररूपणा की और रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक जैसे नये अलंकारों की स्थापना की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादृश्यमूलक उपमा अलंकार में गुण-क्रियादि के साम्य के कारण एक वस्तु की तुलना अन्य वस्तु के साथ की जाती है। यह साम्य दो पदार्थों में सर्वात्मना हो, यह आवश्यक नहीं। अलंकारदर्पणकार की दृष्टि में देश, काल, क्रिया एवं स्वरूपादि के कारण भिन्नता होने पर भी उपमेयोपमान में अल्पसाम्य के कारण भी उपमा होती है। (गाथा -११)

अलंकारदर्पणकार का यह लक्षण भामह के लक्षण (काव्यालंकार, २.३०) से मिलता जुलता है। दण्डी ने उपमावाचक शब्दों का विस्तृत विवरण दिया है, जो यहाँ नहीं मिलता। उपमा के दोषों का भी विवेचन यहाँ नहीं हुआ है। हां, भेदों का विवेचन अवश्य हुआ है। यहाँ उपमा के सत्रह भेद गिनाये गए हैं, जबकि दण्डी ने ३५, विश्वनाथ ने २७ और जगन्नाथ ने १२५ की संख्या प्रस्तुत की है।

अलंकारदर्पणकार के भेदों में प्रतिवस्तूपमा भामह (काव्यलंकार, २.३७.३८) और दण्डी (काव्यादर्श, २.१४५१) के उपमा भेदों में दिखाई देती है। भामह ही वस्तुत: इसके उद्भावक हैं। दण्डी ने उन्हीं का अनुकरण किया है। उद्भट इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में प्रस्थापित करते हैं (काव्यालंकारसार-संग्रह, १.२२)। मम्मट ने भी इसका समर्थन किया है। रुय्यक, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित ने मम्मट का ही अनुकरण किया है। भोज ने इसे प्रतिवस्तूक्ति कहा है और उसे साम्यालंकार का एक भेद माना है।

उपमा और प्रतिवस्तूपमा में अन्तर यह है कि उपमा में साधारण धर्म का कथन एक बार होता है, जबकि प्रतिवस्तूपमा में दो बार। उपमा में पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा साधारण धर्म का कथन नहीं होता, पर प्रतिवस्तूपमा में होता है। उपमा में एक वाक्य होता है और वाचक पदों द्वारा सादृश्य-कथन होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य होते हैं और इवादि पदों का प्रयोग नहीं होता। इसी तरह प्रतिवस्तूपमा में साम्य की प्रतीति वस्तुप्रतिवस्तुभाव के द्वारा होती है जबकि निदर्शना में वह बिम्बप्रतिबिम्बभाव के द्वारा होती है।

अलंकारदर्पणकार के गुणकलिता और असमा भेद नये लगते हैं। असमा उपमा अलंकार अवश्य असम अलंकार से मिलता-जुलता है जहाँ उपमान का अभाव या विरह रहता है और इसमें अनन्वय वाच्य रहता है (अलंकार रत्नाकर पृ० ११)। अनन्वयालंकार से इसमें साधारण-सा भेद है। प्रस्तुत वस्तु के धर्म की प्राप्ति अन्यत्र दोनों में नहीं होती पर असमालंकार में यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि इस वस्तु के समान अन्य कोई वस्तु नहीं। अनन्वय में उपमानान्तरव्यवच्छेद की प्रतीति भर होती है।

अलंकारदर्पणकार ने न असम अलंकार माना है और न अनन्वय। असम का विकास अनन्वय से ही हुआ है। अनन्वय की स्थापना सर्वप्रथम भामह ने की है। दण्डी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोज और हेमचन्द ने इसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर उपमा का ही भेद स्वीकार किया है। मम्मट, रुय्यक आदि ने आगे उसी को व्यवस्थित किया है। अलंकारदर्पण में इन दोनों अलकारों को उपमा में सम्मिलित कर दिया गया है।

मालोपमा सादृश्यमूलक अलंकार है। इसे सर्वप्रथम रुद्रट ने स्वतन्त्र अलंकार माना जिसका विवेचन भोज, मम्मट, जयदेव और विश्वनाथ ने किया। भोज इसे प्रपंचोपमा कहते हैं। मम्मट और जयदेव ने इसे उपमा के ही भेद के रूप में स्वीकारा है। अलंकारदर्पण में भी इसे उपमा के भेद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रीतिकाल में इसके भेद-प्रभेदों की भी चर्चा हुई। यहाँ गुणसाम्य और क्रियासाम्य की तरह शब्दसाम्य को भी उपमा का प्रायोजक माना गया है।

अलंकारदर्पणकार ने विगुणरूपोपमा नामक एक नया उपमा भेद दिया है। संपूर्णा और पूर्णोपमा समानार्थक है। गूढोपमा भी एक नया भेद ही लगता है। गूढोक्ति को अर्थालंकार के रूप में अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुत किया और उसे अप्रस्तुतप्रशंसा तथा श्लेष से पृथक् माना। गूढोत्तर, गौणी और गोणीलक्षणा का भी उल्लेख हुआ पर गूढोपमा भेद अन्यत्र नहीं मिला।

अलंकारदर्पणकार का श्रृंखलोपमा रुद्रट का मालोपमा ही है। दण्डी ने इसी को बहूपमा और भोज ने प्रपंचोपमा कहा है। रसनोपमा और श्रृंखलोपमा समानार्थक हैं। रीतिकालीन आचार्यों ने मम्मट तथा विश्वनाथ का अनुकरण किया है। इसकी विवेचना में चिन्तामणि, मतिराम और पद्माकर ने साहित्यदर्पण का आधार लिया तो कुलपति ने काव्यप्रकाश को आधार बनाया। दास ने उपमा और एकावली के मेल को रशनोपमा कहकर नया विचार दिया।

अलंकारदर्पणकार का श्लेषोपमा भेद भी नया लगता है, जो श्लेषालंकार से मिलता-जुलता है। श्लेषालंकार की गणना शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों में होती है। रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य इसे शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों में ही परिगणित करते हैं। उद्भट ने इसे अर्थालंकार माना तथा रुय्यक ने सभंगश्लेष को शब्दालंकार तथा अभंगश्लेष के अर्थालंकार कहा है।

भरत के श्लेष गुण को परवर्तीकाल में भामह ने श्लेषालंकार बना दिया। दण्डी और उद्भट ने इस पर विशेष विचार किया। रुद्रट और भोज ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष को पृथक् -पृथक् कर दिया। मम्मट ने भी अन्वयव्यतिरेकभाव को निर्णायक तत्त्व मानकर उन्हीं का अनुकरण किया। विश्वनाथ पर भी मम्मट की ही छाप है। रुय्यक ने इसे अर्थालंकार कहा और दीक्षित ने अनेकार्थ शब्द विन्यास के रूप में प्रस्तुत किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रीतिकालीन आचार्यों का श्लेष निरूपण दण्डी, मम्मट, जयदेव और अप्पय दीक्षित से अनुप्राणित है। अलंकार दर्पणकार ने श्लेष को पृथक् अलंकार न मानकर उसे उपमा का भेद माना है।

अलंकारदर्पणकार के दरविकलोपमा और एकक्रमोपमा भी नये भेद हैं। ये भेद अन्यत्र नहीं मिलते। एकक्रमोपमा को एकावली से नहीं मिलाया जा सकता है। एकावली अलंकार के जनक आचार्य रुद्रट हैं, जिन्होंने अर्थों की परम्परा को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट किये जाने के उद्देश्य से इसकी स्थापना की है। भोज ने परिकर अलंकार के अन्तर्गत एकावली को संयोजित किया। मम्मट ने वीप्सा के विशेषणभाव से उसे जोड़ा और रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ ने उसका अनुकरण किया। अलंकारदर्पण में परिकर और एकावली दोनों अलंकार नहीं मिलते। उपमा में ही उनका समायोजन कर दिया गया है।

अलंकारदर्पण के निन्दाप्रशंसोपमा और तल्लिप्सोपमा भी अपने ढंग के भेद हैं। दण्डी ने निन्दोपमा तथा प्रशंसोपमा को पृथक्-पृथक् किया है। निन्दाप्रशंसोपमा को व्याजस्तुति में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। अलंकारदर्पण में भी ऐसा कोई अलंकार नहीं है। निन्दोपमा और अतिशयितोपमा को भी इसी तरह अन्यत्र देखा जा सकता है। श्रुतमिलिता तथा विकल्पिता भी उल्लेखनीय हैं। अतिशयोपमा को दण्डी ने उपमाभेद के रूप में माना है और विकल्पिता उपमा को भरत के उपमाभेदों में देखा जा सकता है।

रूपक का लक्षण अलंकारदर्पणकार ने भामह के आधार पर किया है जहाँ गुणसाम्य तथा उपमेयोपमान के अभेदत्व को प्रधान तत्त्व स्वीकारा गया है। इस सन्दर्भ में दण्डी ने तादूप्यप्रतीति, उद्भट ने गुणवृत्तिप्राधान्य, रुद्रट ने उपमेय-उपमान के बीच गुणसाम्य-अभेदत्व, कुन्तक ने सादृश्यमूला गौणीलक्षणा, भोज ने गौणीवृत्ति, और मम्मट ने अभेदारोपण को आधार बनाया है। परवर्ती आचार्यों ने प्राय: मम्मट का अनुकरण किया है। मम्मट के सांगभेद के समस्तवस्तुविषयक और एक देशविवर्ती रूपक अलंकारदर्पणकार के सकलवस्तुरूपक तथा एकैक देश रूपक हैं।

यहाँ यह भेद दृष्टव्य है कि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोपण किया जाता है जो निनिश्चतता की ओर संकेत करता है, पर उत्प्रेक्षा में अनिश्चय का भाव रहता है। इसी तरह निरंगमालारूपक में आरोपण मात्र होता है, अनेकधा कथन नहीं, जबकि उल्लेख में उसका अनेक रूपों में अवस्थिति का कथन होता है।

सादृश्यमूलक **दीपक** अलंकार दीपक न्याय पर आधारित है। इसमें कुछ पदार्थ प्रस्तुत होते हैं और कुछ अप्रस्तुत। यहाँ जो औपम्य या सादृश्य अर्थ होता है, वह इवादि शब्दों द्वारा सूचित नहीं होता। यह गम्यौपम्यमूलक अलंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपक अलंकार को सर्वप्रथम भरत ने विवेचित किया। भामह ने आदि, मध्य, अन्त रूप से उसके तीन भेद किये जिन्हें मम्मट ने क्रियादीपक में अन्तर्भूत किया। अलंकारदर्पणकार ने इसके भेद मुखदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के रूप में किये। दण्डी ने इन भेदों को और भी विस्तार दिया। उद्भट ने उपमा को दीपक में अन्तर्भूत किया और रुय्यक ने उपर्युक्त तीन भेदों को ही दुहराया । परवर्ती आचार्यों में जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित ने रुय्यक और मम्मट का ही अनुकरण किया। जगन्नाथ ने उसे तुल्ययोगिता में अन्तर्भूत किया। रीतिकालीन आचार्यों ने दण्डी, मम्मट और अप्पयदीक्षित का ही अनुकरण किया। तुल्ययोगिता में समस्त पदार्थ या तो प्रकृत होंगे या अप्रकृत जबकि दीपक में कुछ पदार्थ प्रकृत होते हैं और कुछ अप्रकृत।

अलंकार दर्पणकार का **रोध** अलंकार बिल्कुल नया है। इसे इस रूप में किसी ने नहीं कहा है। रोध वहाँ होता है जहाँ आधी कही हुई बात को किसी युक्ति के द्वारा रोक दिया जाता है। इसकी तुलना आक्षेपालंकार से हो सकती है। आक्षेप मूलत: विरोधमूलक अलंकार है जहाँ किसी विशेष अर्थ की व्यञ्जना कराई जाती है। इस अलंकार के प्रवर्तक भामह हैं। **आक्षेप** का अर्थ प्रतिषेध या निषेध है। इसमें वांछित अर्थ को पूरा किये बिना ही बीच में छोड़ दिया जाता है। यह निषेध वास्तविक न होकर निषेधाभास होता है। लगभग सभी आचार्यों ने इस अलंकार को स्वीकार किया है। दण्डी ने इसके २४ भेदों की परिगणना की है। रुद्रट ने इसको नये ढंग से परिभाषित किया है। मम्मट ने भामह का अनुकरण किया और विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने मम्मट का समर्थन किया। रीतिकालीन आचार्यों ने भी दण्डी, मम्मट और अप्पयदीक्षित को आधार बनाकर अर्थालंकार का विवेचन किया है। परन्तु रोधालंकार को किसी ने स्वीकार नहीं किया। अलंकारदर्पणकार ने आक्षेप को स्वतंत्र अलंकार माना है। अत: रोध और आक्षेप दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

व्यंजना की समता होने पर **अनुप्रासालंकार** होता है, यदि वह रसानुकूल हुआ तो। इसका सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ को छोड़कर प्राय: सभी आचार्यों ने इसका वर्णन किया है। उद्भट तक अनुप्रासालंकार के स्वरूप में स्पष्टता आ चुकी थी। वामन का लक्षण भी उद्भट से प्रभावित है। रुद्रट ने व्यंजनों की अनेकधा आवृत्ति को अनुप्रास कहा है। मम्मट ने मात्रा के वैसादृश्य में भी अनुप्रास माना। विश्वनाथ ने वर्णसाम्य के स्थान पर शब्द साम्य की प्रतिष्ठा की।

भामह, उद्भट, रुद्रट, भोज, मम्मट एवं विश्वनाथ ने अनुप्रास का विश्लेषण करते हुए उसके भेदों का विवेचन किया है। रुद्रट ने अनुप्रास के ५ भेद किये, भोज ने छह भेद कर सन्तोष किया, पर मम्मट ने मात्र दो भेद किये-वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। उन्होंने वर्णानुप्रास के अन्तर्गत छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास को रखा और शब्दानुप्रास को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाटानुप्रास कहा। अलंकारदर्पणकार ने भी अनुप्रास के दो ही भेद किये हैं-पदानुप्रास ओर वर्णानुप्रास।

अलंकारदर्पणकार का **अतिशयालंकार** भामह का अतिशयोक्ति अलंकार है जिसे उसने समस्त अलंकारों का बीज कहा है। भामह के समान वहाँ भी अतिशयोक्ति को 'लोकातिक्रान्तगोचर' कहा गया है। दण्डी ने उसी को ''लोकसीमातिक्रान्तरूप' माना है। परवर्ती आचार्यों में विद्याधर, विद्यानाथ एवं विश्वनाथ के लक्षण रुय्यक से प्रभावित हैं। दीक्षित ने अतिशयोक्ति के आठ भेद किये हैं।

विशेषालंकार विरोधमूलक अलंकार है। विशेष का अर्थ है - विलक्षण या असाधारण। इस अलंकार में आधार के बिना आधेय का वर्णन ही विलक्षणता का द्योतक है। आचार्य रुद्रट इस अलंकार के पुरस्कर्ता हैं। बाद में मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ और विश्वेश्वर ने इसका विवेचन किया है। मम्मट द्वारा किये गये विशेषालंकार के द्वितीय भेद से अलंकारदर्पणकार का लक्षण अधिक मिलता दिखाई देता है।

आक्षेप अलंकार को अलंकारदर्पणकार ने स्वतंन्त्र अलंकार माना है और उसके दो भेद किये हैं-भविष्यमाण और एकान्त। शोभाकर मित्र द्वारा वर्णित विध्याभास अलंकार आक्षेप से ही उद्भूत है। दण्डी का अर्थान्तराक्षेप भी आक्षेप के द्वितीय भेद से मिलता-जुलता है।

जाति अर्थालंकार है। मम्मट ने इसे स्वभावोक्ति नाम दिया है। यह गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार है। इसका प्रायः सभी आचार्यों ने वर्णन किया है। भामह और जगन्नाथ ने इसका वर्णन अवश्य नहीं किया है। इसके अनेक भेद-प्रभेद हुए हैं।

व्यतिरेक अलंकार सादृश्यमूलक अलंकार है। इसमें गुण विशेष के कारण उपमेय के उत्कर्ष या आधिक्य का वर्णन किया जाता है। तथा उपमान-उपमेय को अतुलनीय माना जाता है । भामह इसके उद्भावक हैं। उन्हीं का अनुकरण अलंकारदर्पणकार ने किया है। दण्डी ने उसके चार भेद किये हैं। मम्मट ने २४, और दीक्षित ने तीन भेदों का उल्लेख किया है। व्यतिरेक में उपमान की भर्त्सना नहीं की जाती जबकि प्रतीप में भर्त्सना होती है।

अलंकारदर्पणकार का **रसिक** अलंकार भामह का रसवत् अलंकार होना चाहिए। इसका वर्णन भामह, दण्डी, उद्भट, रुय्यक, विश्वनाथ, दीक्षित एवं पद्याकर ने किया है। आनन्दवर्धन ने इसे गुणीभूत व्यंग्य में अन्तर्भूत किया है।

अलंकारदर्पणकार का **पर्याय** अलंकार रुद्रट के पर्यायालंकार से भिन्न लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय का अर्थ अनुक्रम है। इसमें अनेक वस्तुओं की स्थिति का वर्णन एक आधार में अथवा एक ही आधेय की क्रमशः अनेक धाराओं में कालभेद से होता है। पर अलंकारदर्पणकार ने पर्याय को अन्य के व्याज से कही जाने वाली निबद्ध उक्ति में माना है। सम्भवतः यहाँ पर्याय से 'पर्यायोक्ति' का तात्पर्य रहा है। पर्यायोक्ति के उद्भावक आचार्य भामह रहे हैं। भामह के ही मन्तव्य के उद्भट और दण्डी ने स्पष्ट किया है। बाद में पर्यायोक्ति का वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत करने का श्रेय मम्मटाचार्य को है।

यथासंख्य वाक्य न्यायमूलक अलंकार है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भट्टिकाव्य में मिलता है। भामह ने मेधाविन् नामक किसी आचार्य को इसका उद्भावक माना है। दण्डी ने भामह के ही विचारों में कुछ नया चिंतन दिया और उपमानोपमेय भाव में भी यथासंख्य की स्थिति स्वीकार की। भामह से वामन तक यथासंख्य में अन्यालंकार का मिश्रण होता रहा जिसे रुद्रट ने परिष्कृत किया। उन्होंने कहा कि पदार्थ यथाक्रम विशेषण-विशेष्य भाव से गृहीत हो तो ही यथासंख्य होगा। अलंकारदर्पणकार ने इसके द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण भेद किये हैं।

समाहित अलंकार को सार भी कहा जाता है। यह श्रृंखलामूलक अलंकार है। इस अलंकार के उद्भावक आचार्य रुद्रट हैं। रुय्यक ने इसे उदार तथा भोज ने उत्तर संज्ञा भी दी है। जयदेव ने सार तथा उदारसार इन दो अलंकारों को माना है, जबकि दीक्षित ने सार में ही उदारसार को अन्तर्भूत किया है। इसमें उत्कृष्टता का आरोह होता है।

इस अलंकार का यदि और भी अन्तःपरीक्षण किया जाये तो इसकी तुलना समाधि अलंकार से की जा सकती है। इस अलंकार के मूल में 'काकताली न्याय' की कल्पना की गई है। इसमें दो कारण होते हैं - एक पहले से ही विद्यमान होता है और एक आगन्तुक । इसका सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। भामह और दण्डी ने इसका नाम समाहित ही दिया है। अलंकारदर्पणकार ने दण्डी का अनुकरण किया है।

विरोधालंकार विरोधमूलक अलंकार है जहाँ वास्तविक विरोध न होकर विरोधाभास मात्र होता है। इसके उद्भावक भामह हैं। उद्भट, दण्डी, वामन, भोज आदि आचार्यों ने भामह का ही अनुकरण किया है। पर रुद्रट ने उसे वास्तवमूलक अलंकारों के अन्तर्गत रखा है। मम्मट ने इसके दस भेदों का वर्णन किया है जिनका अनुकरण रुय्यक ने किया है। अलंकारदर्पणकार ने विरोध के कोई भेद नहीं गिनाये हैं।

संदेह सादृश्यमूलक अलंकार है। भामह इसके पुरस्कर्ता हैं। दण्डी ने इसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर उपमा के एक भेद संशयोपमा के रूप में स्वीकार किया है। भामह ने इसका नाम ससन्देह दिया है। उद्भट ने इसके दो भेद किये हैं - निश्चयगर्भ तथा शुद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देह। रुद्रट ने निश्चयान्त जोड़कर उसके तीन भेद कर दिये। शोभाकर ने सादृश्येतर सम्बन्ध-निबन्धन में भी सन्देहालंकार को माना है। अलंकारदर्पण में इसके भेदों का कोई भी वर्णन नहीं है। सन्देह में दोनों पक्ष समान होते हैं जबकि उत्प्रेक्षा में उपमान पक्ष का मोह रहता है।

विभावना विरोधमूलक अलंकार है। विभावना का अर्थ है- विशेष प्रकार की कल्पना जहाँ कारण के अभाव में कार्य के सद्भाव का वर्णन होता है। भामह ने इसकी स्थापना की और लगभग सभी आचार्यों ने उसे स्वीकार किया। दण्डी, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने उसको और अधिक स्पष्ट किया। अप्पयदीक्षित का विशेष योगदान रहा उसके निरूपण में। उन्होंने उसके छः भेद किये। अलंकारदर्पण में उसके कोई भेद नहीं मिलते। विभावना में कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति वर्णित होती है, जबकि विशेषोक्ति में कारण के होते हुए भी कार्याभाव पाया जाता है।

भावालंकार का उद्भावन आचार्य रुद्रट ने किया जिसका उल्लेख अलंकार सर्वस्वकार ने अपने ग्रन्थ के आदि में ही किया है। अलंकारदर्पणकार ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया। इस अलंकार की तुलना आनन्दवर्धन की वस्तुध्वनि से की जा सकती है।

अन्यापदेश नामक अलंकार भी नया है। जहाँ अप्रस्तुत वाच्यार्थ के माध्यम से प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाती है वहाँ अन्यापदेश नामक अलंकार होता है। यह अर्थालंकार है। इसे भामह ने अप्रस्तुत प्रशंसा कहा है। प्रायः सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। मम्मट ने इसके पांच भेद माने हैं। पाँचवें भेद की तुलना अन्यापदेश से की जा सकती है जहाँ तुल्य अप्रस्तुत के अभिधान द्वारा तुल्य प्रस्तुत व्यंग्य होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे अन्योक्ति कहा है।

परिकर अर्थालंकार है जिसमें साभिप्राय या व्यंजक विशेषण शोभाकारक होकर विशेष्य का उपस्कारक होता है। इस अलंकार के उद्भावक रुद्रट हैं। इसके बाद भोज, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि आचार्यों ने इसको परिष्कृत किया है। परिकर और अन्य परिकर समानार्थक हैं। भोज ने इसे क्रिया, कारक सम्बन्धी, सादृश्य तथा दृष्टान्त के रूप में पांच प्रकार का माना है। वे एकावली को परिकर से भिन्न मानते हैं। मम्मट ने इसे परिष्कृत किया। अलंकारदर्पणकार मम्मट का अनुकरण करते दिखाई देते हैं। परिकरांकर अलंकार को विद्यानाथ दीक्षित ने ही माना है। इसमें कवि साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग करता है।

अर्थान्तरान्यास सादृश्यमूलक या तर्कन्यायमूलक अलंकार है। सामान्य का विशेष के साथ अथवा सामान्य के साथ समर्थन न करना अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादृश्य मूलक अलंकार है। यह सादृश्य शाब्द होता है, अर्थ या व्यंग्य नहीं। इस अलंकार के पुरस्कर्ता भामह हैं। प्राचीन आचार्यों में रुद्रट ने सर्वप्रथम सामान्य-विशेषभाव का समावेश किया तथा इसकी सादृश्यमूलकता स्वीकार की। मम्मट ने इसे और व्यवस्थित किया। रुय्यक ने कारण- कार्य भाव का समर्थन किया और उसके आठ भेद किये। दृष्टान्त औपम्यमूलक है जहाँ पदार्थ विशेष होते हैं जबकि अर्थान्तरन्यास में एक पदार्थ समान्य होता है, एक विशेष।

सहोक्ति सादृश्यमूलक अलंकार है। सहार्थक शब्द के योग से एक शब्द का अनेक अर्थ का बोधक होना सहोक्ति है। इस अलंकार का प्राणभूत तत्त्व अतिशयोक्ति है। भामह ने इस अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन किया है। उत्तरकालीन आचार्यों ने उन्हीं का अनुकरण किया है। रुद्रट ने वास्तव तथा औपम्य इन दो वर्गों में सहोक्ति का वर्णन किया है। रुय्यक ने व्याकरणिक आधार की प्रतिष्ठा कर सहोक्ति की औपम्यमूलकता सिद्ध की है। इसमें सभी धर्मी प्रकृत होते हैं, प्रधानधर्मी उपमेय तथा गौणधर्मी उपमान होता है।

ऊर्जस्वि अलंकार की प्रतिष्ठा भामह ने की और उसे परिपुष्ट किया दण्डी, उद्भट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने । यहाँ तेजस्विता तथा अलंकार का उत्कर्ष दिखाया जाता है। यह अर्थालंकार है।

अपह्नुति अलंकार सादृश्यमूलक अभेद प्रधान अलंकार है। अपह्नुति का अर्थ है- गोपन, निह्नव, निषेध। इसमें प्रकृत का निषेधकर अप्रकृत अर्थात् उपमान की स्थापना की जाती है। भामह इस अलंकार के प्रवर्तक हैं। उन्होंने इसमें किञ्चित् सादृश्य या उपमा का रहना आवश्यक माना है। दण्डी ने उसे उपमा का एक भेद माना और फिर उसे स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार किया। अपह्नुति में प्रकृत निषेध होता है जबकि रूपक में प्रकृत का निषेध नहीं होता। व्याजोक्ति गूढार्थप्रतीतिमूलक है। अलंकारदर्पणकार ने यहाँ भामह का अनुकरण किया है।

प्रेमातिशय में प्रिय के अतिशय का वर्णन होता है। दण्डी ने इसे सर्वप्रथम परिभाषित किया है और उसे प्रेयस् अलंकार कहा है। अलंकारदर्पणकार ने दण्ड का ही समर्थन किया है।

उदात्त अलंकार किसी वस्तु की समृद्धि के वर्णन में होता है। यह अतिशयमूलक अलंकार है जिसमें बीज रूप में अतिशयोक्ति विद्यमान रहती है, भले ही वह अतिशयोक्ति से संकुचित हो। काव्यशास्त्र में इसके तीन नाम मिलते हैं- उदात्त (भामह), उदार (भट्टि) तथा अवसर (रुद्रट)। वामन और पण्डितराज के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने इसका वर्णन किया है। अलंकारदर्पणकार ने भामह का अनुकरण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवृत्ति अलंकार वाक्यन्यायमूलक अर्थालंकार है। जिसमें सम अथवा असम पदार्थों के परस्पर विनिमय का वर्णन किया जाता है। इसका वर्णन भामह से विश्वेश्वर पण्डित तक होता रहा है। अलंकारदर्पणकार ने इसी को परिवृत्त अलंकार कहा है।

द्रव्योत्तर में द्रव्य की प्रधानता होती है, **क्रियोत्तर** में क्रिया की प्रधानता होती है और **गुणोत्तर** में गुण की प्रधानता होती है। अलंकारदर्पणकार के इन अलंकारों को कारक और क्रियादीपक में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

श्लेषालंकार शब्द और अर्थ दोनों है। श्लिष्ट या अनेकार्थवाची शब्दों के द्वारा अनेक अर्थ के अभिधान में शब्दश्लेष होता है। जहाँ उपमान और उपमेय एक ही शब्द से निरूपित हो वह श्लेषालंकार है। इसका विवेचन प्रथमत: भामह ने किया । यद्यपि भरत ने उसे गुण में स्थान दिया था। भामह का जोर अर्थश्लेष पर रहा। दण्डी, उद्भट, मम्मट आदि आचार्यों ने इसे अधिक स्पष्ट किया। रुय्यक ने इसे अर्थालंकार माना है। रुद्रट ने इसके अठारह भेद किये। अलंकारदर्पणकार ने सहोक्ति, उपमा और हेतु इन तीन भेदों का ही वर्णन किया है। समासोक्ति में वाच्यार्थ केवल प्रकृतपक्षक होता है और अप्रकृतपक्षक की प्रतीति होती है, जबकि श्लेष में दोनों वाच्यार्थ होते हैं।

व्यपदेश स्तुति अपरिचित-सा अलंकार है। **समयोगिता** तुल्ययोगिता का समानार्थक है। यह सादृश्यमूलक अलंकार है। जहाँ सभी प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों का एक ही क्रिया या गुण के साथ अन्वय हो, वहाँ समयोगिता अलंकार होता है। भामह दण्डी, वामन ने इसका विवेचन किया पर मम्मट ने इसके स्वरूप को व्यवस्थित किया।

अप्रस्तुत प्रसंगालंकार विशेषालंकार का समानार्थक-सा लगता है। अनुमान में साधन द्वारा साध्य का चमत्कारक वर्णन रहता है। **आदर्श** नामक अलंकार तो अलंकार दर्पणकार का बिल्कुल अपना है। अन्य किसी ने उसे स्वीकारा नहीं है। उत्प्रेक्षा अलंकार तो प्रसिद्ध है ही।

आशी: अलंकार का संकेत भामह ने किया पर उसका सर्वप्रथम लक्षण किया दण्डी ने। अलंकारदर्पणकार ने उसी आधार पर इस अलंकार को स्पष्ट किया है।

उपमारूपक अलंकार भामह, दण्डी और वामन ने स्वीकार किया है, पर वस्तुत: वह रूपक से अधिक भिन्न नहीं लगता। दण्डी ने इसे रूपक का ही एक भेद माना है।

निदर्शन एक सादृश्यमूलक अलंकार है। इसे भी सभी ने स्वीकार किया है। **उत्प्रेक्षावयव** का उद्भावन भामह ने किया पर भोज आदि परवर्ती आलंकारिकों ने इसका अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा में ही कर दिया। वस्तुत: यह स्वतंत्र अलंकार न होकर श्लेष, उत्प्रेक्षा और रूपक का ही मिश्रित रूप है। रूपक में तादूप्यारोप होता है जबकि निदर्शन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐक्यारोप पाया जाता है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा सामानाधिकरण्य की दृष्टि से भी भेद है।

उद्भेद को अन्योक्ति के रूप में समझा जा सकता है। शोभाकर मिश्र के अलंकार रत्नाकर में "निगूढस्य प्रतिभेदः उद्भेदः' के रूप में इसका उल्लेख आता है। **वलितालंकार** में किम् पद के प्रयोग के द्वारा श्रेष्ठवचन का कथन किया जाता है। यह अलंकार नया है।

यमक शब्दालंकार है। सार्थक अथवा निरर्थक भिन्न अर्थवाले स्वर, व्यंजन समुदाय की आवृत्ति या पुनः श्रवण में यमक अलंकार होता है। दण्डी, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट आदि सभी आचार्यों ने यमक को स्वीकार किया है। भरत ने इसके दस भेदों का वर्णन किया है और भामह ने पाँच का। उत्तरकालीन सभी आचार्यों ने यमक को स्वीकार किया है। रुय्यक ने स्वर-व्यंजन समुदाय की पुनरुक्ति को यमक कहा है। रीतिकालीन आचार्यों का यमक निरूपण दण्डी तथा मम्मट से प्रभावित है। अलंकारदर्पण में पादादि, मध्यान्त, आवलि और सकलपदयमक के उदाहरण दिये गये हैं।

प्रस्तुत अलंकारदप्पण को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय सर्वश्री **अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा** को है। उनकी सदाशयता और सहयोगीवृत्ति के लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। उनके सम्पादन, संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद का उपयोग प्रस्तुत संस्करण में किया गया है, एतदर्थ हम उनके कृतार्थ हैं। हमारी पाण्डुलिपि पिछले दो वर्षों से प्रेस में पड़ी थी। अभी-अभी पता चला है कि प्राकृत के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् स्व० प्रो० भयाणी द्वारा सम्पादित अलंकारदप्पण का अहमदाबाद से प्रकाशन हुआ है। उसका भी हमने अपने सम्पादन में उपयोग किया है। अतः हम प्रो० भयाणी सा० के भी अभारी हैं।

इसके व्याख्याकार हैं संस्कृत जगत् के विश्रुत विद्वान् प्रोफेसर सुरेशचन्द्र पाण्डे, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय जिन्होंने विषय को बड़ी गम्भीरता के साथ व्याख्यायित किया है। विद्यापीठ के लिए यह गौरव का विषय है कि उन्होंने संस्थान में प्राकृत विभागाध्यक्ष के रूप में समर्पित भाव से अपनी सेवायें दीं और यह साहित्यिक कार्य पूरा किया। इस योगदान के लिए हम उनके भी हार्दिक आभारी है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थों को आधुनिक शैली में सम्पादित कर/कराकर अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का संकल्प लिये हुए है। इसी उपक्रम में प्रस्तुत संस्करण सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

वाराणसी
दिनांक : 15-03-2001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

'अलंकारदप्पण' प्राकृत भाषा में रचित अलंकारग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा में अलंकारशास्त्र का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री अगरचन्द नाहटा को है। यह सर्वप्रथम मरुधर केसरी (मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज) अभिनन्दन ग्रन्थ में वीर संवत् २४९५ (ई०सन् १९६८) में जोधपुर ब्यावर से छपा था। उसमें भंवरलाल नाहटा कृत हिन्दी अनुवाद भी था जिसमें संस्कृतच्छाया और हिन्दी अनुवाद प्रायः सन्तोषजनक नहीं थे। उन्हें हमने परिष्कृत किया है। श्री अगरचन्द नाहटा जी ने ग्रन्थ की भूमिका में जो महत्त्वपूर्ण सूचना दी है, उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है-

"प्राकृत भाषा का विपुल और विविधविषयक साहित्य प्रकाश में आया है, किन्तु कोई अलंकार ग्रन्थ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ का अस्तित्व भी विदित नहीं है।

इस ग्रन्थ में अलंकार सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है उससे इसका निर्माणकाल ८वीं से ११वीं शताब्दी का माना जा सकता है। रचना से कर्ता का पता नहीं चलता। प्राकृत भाषा की अलंकार सम्बन्धी यह एक ही रचना जैसलमेर के बड़े ज्ञानभण्डार में ताड़पत्रीय प्रति में प्राप्त हुई है।

कवि ने प्रारम्भ में श्रुतदेवता को नमस्कार करके, काव्य में अलंकारों का औचित्य और उद्देश्य का वर्णन कर अलंकारशास्त्र रचने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् पद्य ५ से १० तक में वर्णित ४० अलंकारों के नाम कहे हैं। अनन्तर प्रत्येक अलंकार के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं। इनमें कतिपय अलंकारों के लक्षणमात्र हैं तो कतिपय के उदाहरण मात्र ही हैं। प्ररूपित अलंकारों की संख्या ४५ होती है जब कि ग्रन्थकार ने पद्य १० में ४० संख्या का उल्लेख किया है, अतः प्रेमातिशय से गुणोत्तरपर्यन्त ६ अलंकारों को एक प्रेमातिशय के अन्तर्गत स्वीकार कर लेने से ४० की संख्या का औचित्य ठहरता है।

इस ग्रन्थ में निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक आदि अलंकार अन्य लक्षणग्रन्थों में प्राप्त नहीं हैं। ये अलंकार नवीन निर्मित हैं या किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र का अनुसरण हैं, निश्चित नहीं कहा जा सकता।

१३४ गाथाओं की यह रचना जैसलमेर भंडार की ताड़पत्रीय प्रति १३ पन्नों में लिखी हुई है, जो १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई जान पड़ती है। इसके साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्यादर्श भी लिखा हुआ है।

आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजय जी जब जैसलमेर भण्डार का उद्धार एवं सुव्यवस्था कर रहे थे तब मैं अपने विद्वान् मित्र नरोत्तमदासजी स्वामी के साथ वहाँ पहुँचा और स्वामी जी ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपि की जिसे मुनि पुण्यविजय जी ने मूल प्रति से मिलाकर संशोधित कर दिया। तदनन्तर मेरे भातृपुत्र भंवरलाल ने इसकी संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद का कठिन कार्य यथामति सम्पन्न किया। अनुवाद में भूलें और कमी रह सकती हैं। केवल एकमात्र प्राकृत के अलंकारशास्त्र का सभी विद्वानों को परिचय हो जाय इसीलिये श्रम किया जा रहा है)''

India Antiquary Vol. IV पृष्ठ ८३ में अलंकारदप्पण के सम्बन्ध में जो सूचना है, वह इस प्रकार है- "Dr. Buhler on the celebrated Bhaṇḍara of Sanskrit Manuscripts at Jessalmir (Translated by Shankar Pandurang Pandit)

"The Alaṁkāra is representsd by very important works, of works that are already known there is Daṇḍins kāvyādarśa in a copy dated Saṁvat 1161 (Ad. 1105) 'There is also the kāvyaprakāśa of Mammaṭa with a commentary by Someśvar which I believe is new. Besides there is the Udbhaṭālaṁkāra, the Alaṁkāraśāstra of Vāmanācārya and a ṭīkā on a portion of the Rudratālaṁkara as also an Alaṁkāradarpaṇa (134 Slokas) in Prakrit."

अलंकारदप्पण का रचयिता अज्ञातनामा है। ग्रन्थकार ने अपना नाम कहीं भी नहीं दिया है, इससे उसकी आत्म विज्ञापन पराङ्मुखता ही प्रतीत होती है। प्राय: कुछ विद्वान् इसे किसी जैनाचार्य की रचना मानते हैं और उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि इसके आदि के मङ्गलश्लोक में श्रुतदेवता को प्रणाम किया गया है। वस्तुत: गाथा में श्रुतदेवता नहीं, अपितु श्रुतिदेवी को प्रणाम किया गया है-

सुन्दरपअविण्णासं विमलालंकारेहिअसरीरं ।
सुइदेवियं च कव्वं च पणविअ पवरवण्णड्ढं ।।१।।

जैन आगमों के लिये श्रुत का प्रयोग होता है श्रुति का नहीं, जैसे श्रुतज्ञान, श्रुतकेवली, श्रुतस्कन्ध आदि। अलंकारदप्पण में सुइदेवियं अर्थात् 'श्रुतिदेवीम्' कहा गया है। श्रुति का अर्थ यदि श्रुत ही माना जाय तो भी श्रुतदेवी से तात्पर्य वाग्देवी सरस्वती से ही है और सरस्वती वैदिक परम्परा की ही देवी हैं। इस कारण ग्रन्थकार की वेद में निष्ठा होने के कारण उसे जैनाचार्य मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त ६९वीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा में भगवान् शिव को नमस्कार करना तथा ११७वीं गाथा में द्विजों के आशीर्वाद की महिमा का वर्णन भी इस बात के प्रमाण हैं कि ग्रन्थकार वैदिक परम्परा का ही आचार्य रहा होगा।

'अलंकारदप्पण' में १३४ पद्य हैं जिनमें काव्य के ४४ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण हैं। ५वीं से १०वीं कारिका तक गिनाए गए अलंकारों का क्रम इस प्रकार है- उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जाति, व्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासंख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, अन्यपरिकर, सहोक्ति, ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय, उदात्त, परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, बहुश्लेष, व्यपदेशस्तुति, समयोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा, संसृष्टि, आशी:, उपमारूपक, निदर्शना, उत्प्रेक्षावयव, उद्भेद, वलित, और यमक। उक्त अलंकारों में द्रव्योत्तर, गुणोत्तर, क्रियोत्तर, रोध, आदर्श, आतुर, तथा प्रेमातिशय नवीन अलंकार हैं। इनकी चर्चा किसी अन्य आलंकारिक द्वारा नहीं की गई है।

अलंकारदप्पणकार ने आचार्य भामह की तरह अलंकार का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है और न अलंकारों के पौर्वापर्य का कोई युक्तिसंगत क्रम ही रखा है। शब्दालंकार और अर्थालंकार की विभाजक रेखा भी नहीं खींची गई है। कहीं-कहीं अलंकारों के लक्षण भी स्पष्ट नहीं हैं, अत: खींच-तान कर अर्थ निकालना पड़ा है। कहीं लक्षण की संगति भी उदाहरण में ठीक नहीं बैठ पाती। अलंकारों के लक्षण और भेद प्राय: आचार्य भामह तथा दण्डी से साम्य रखते हैं। अलंकारों के सभी उदाहरण ग्रन्थकार के स्वरचित प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे न तो किसी अलंकार ग्रन्थ में मिलते हैं और न गाहासत्तसई अथवा वज्जालग्गं में ही मिलते हैं। इससे ग्रन्थकार के कवित्वगुण का भी संकेत मिलता है। इसका अलंकार विवेचन आचार्य भामह, दण्डी और कहीं-कहीं आचार्य रुद्रट के विवेचन से साम्य रखता है। इसमें विशेषरूप से भामहालंकार की छाया दिखाई देती है।

भामह के "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" १/१३ की ही स्पष्ट छाया है अलंकारदप्पण की अधोलिखित कारिका में-

अच्चंतसुन्दरं पि हु निरलंकारं जणम्मि कीरन्तं ।
कामिणीमुहं व कव्वं होइ पसण्णं पि विच्छाअं ॥३॥

उत्प्रेक्षावयव नामक अलंकार भी केवल भामह और अलंकारदप्पणकार को ही मान्य है अन्य किसी आलंकारिक को नहीं। आचार्य दण्डी ने उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर उत्प्रेक्षा का ही भेद माना है। भोज ने भी उसका उत्प्रेक्षालंकार में ही अन्तर्भाव किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' में प्रतिपादित अलंकारों में तथा अलंकारदप्पण के अलंकार लक्षणों में कितना अधिक साम्य है अधोलिखित रूप में तुलना करके समझा जा सकता है:-

उत्प्रेक्षावयव अलंकार

श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः ।
रूपकार्थेनि च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ।। काव्या. ३/४७
होई सिलेस छलेण मज्जंती रूअएण अप्फुडेण ।
उपेक्खा एसासुआ उप्पेक्खाव अवणामा हु ।।अलं० १२१

रूपकालंकार

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्टा रूपकं नाम तद्विदु : ।।काव्या. २/२१
उवमाणेणुवमेअस्स जं अरूविज्जए वि रूविअं सु ।
दव्वगुणसम्मअं तं भणन्ति इह रूवअं कइणो ।।अलं ४१

उपमालंकार

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।।काव्या. २/३०
उवमाणेणं जा देसकाल किरिआवरोह पडिएणं ।
अवमेअस्स सरिसअं लहइ गुणेणं खु सा उवमा ।।अलं. १०

अतिशयोक्ति अलंकार

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्त गोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ।।काव्या. २/८
जत्थ निमित्ताहिन्तो लोआ एकत्तगोअरं वअणं ।
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसअणामो अलंकारो ।। अलं. ५४

सन्देह अलंकार

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः ।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ।। काव्या. २/४३
उवमाणेण सरूअं भणिऊण भस्सअे जहिं भेओ ।
थुइकरणेणं संदेह संसिओ सोहु संदेहो ।। अलं. ९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुत प्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा ।। काव्या० ३/२९
अप्पत्थुअप्पसंगो अहिआरविमुक्कवस्तुणो भणनं ।अलं. १०७

श्लिष्ट अलंकार

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ।।काव्या. ३/१४
तन्सहोक्त्युपमाहेतु निर्देशात्त्रिविधं यथा । काव्या. ३/१७
उवमाए उवमेअं रूइज्जइ जेण सो सिलेसत्ति ।
सो उण सहोत्ति उअमा हेतुहिंतो मुणेअव्वो ।।अलं. ९९

यमकालंकार

तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।।काव्या. २/१७
जमअं सुइ सममिणत्थ वअणेपुणुरुत्तआ भणिअं । अलं० १२६

यमकालंकारभेद

आदिमध्यान्त यमकं पादाभ्यासं तथावली ।
समस्तपाद यमकमित्येत्तत्पञ्चधोच्यते ।। काव्या. २/९
आइमज्झंतगअं पाअमासो तहावलिनिबंधो ।
णीसेसपाअरइअं जाइ जमअं पंचवविहं ।। अलं.१२८

दीपकालंकारभेद

आदिमध्यान्त विषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा ।।काव्या. २/२५
मुहमज्झंतगएणं भण्णइ दीविअं तिविहं ।अलं० ४६

रसवदलंकार

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा । काव्या. ३/६
फुडसिंगाराइरसो रसिओ अह भण्णए अलंकारो । अलं. ६४

प्रतिवस्तूपमा

समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
याथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्य प्रतीतितः ।काव्या. २/३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिवत्थू एसा उअमा जा होइ समाणवत्थुरूआअ ।
इवमिवपिवाइरहिआ वि सरिसगुण पच्चुअहिंतो ।।अलं. १४

इसके अतिरिक्त भी आचार्य भामह का अलंकारदप्पणकार से बहुविध साम्य स्पष्ट प्रतीत होता है। संसृष्टि अलंकार भी दोनों आचार्यों को मान्य है, संकर नहीं। दण्डी ने संकट को संसृष्टि का प्रकार माना है। उत्प्रेक्षावयव अलंकार भामह तथा अलंकार दर्पणकार के अतिरिक्त अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं है। परवर्ती आलंकारिकों में भोज ने उत्प्रेक्षा में ही उसका अन्तर्भाव किया है-

उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता ।
मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपत: ।।

आचार्य दण्डी ने उत्प्रेक्षावयव को उत्प्रेक्षा का ही भेद माना है, स्वतन्त्र अलंकार नहीं- 'उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोपि च'- काव्यादर्श २/३५९

इस प्रकार 'उत्प्रेक्षावयव, को स्वतन्त्र अलंकार मानना अलंकारदप्पणकार को भामह का अनुयायी ही बनाता है। हेतु, सूक्ष्म और लेश-इन तीन अलंकारों का भामह ने खण्डन किया है- "हेतुश्च सूक्ष्मो लेशश्च नालंकारतया मत:।"

काव्यालंकार २/६८

अलंकारदप्पणकार ने तो उक्त तीन अलंकारों का नाम तक नहीं लिया, किन्तु आचार्य दण्डी को इनकी अलंकारता मान्य थी-

"हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्" काव्यादर्श २/२३५

भामह ने उदात्त अलंकार का लक्षण नहीं दिया, किन्तु उदाहरण दिया है। दण्डी ने उदात्त का स्पष्ट लक्षण तथा उदाहरण देकर उसके दो भेद माने हैं- (काव्यादर्श २.३००)

अलंकारदप्पणकार ने भी दण्डी के समान ही आशयमहत्त्व और प्रतिपादन-महत्त्व की दृष्टि से उदात्तालंकार के दो प्रकार बताए हैं- रिद्धीमहाणु भावत्तणेहिं दुविधो वि जाअइ उदत्तौ। और द्रव्योत्तर, गुणोत्तर तथा क्रियोत्तर नामक नितान्त नूतन अलंकार माने हैं। उन्हें न भामह ने माना है और न दण्डी ने। आचार्य भामह ने शब्द विभाग के प्रसंग में द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के भेद से शब्द के चार प्रकार बताए हैं-

द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात्ते च चतुर्विधा: ।
यदृच्छाशब्दमित्यन्ये डित्थादिं प्रतिजानते ।।६/२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतञ्जलि के महाभाष्य में 'द्रव्य' के स्थान पर 'यदृच्छा' शब्द आया है-चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छा शब्दाश्चतुर्थाः।

अलंकारदप्पणकार के जाति,गुण,क्रिया,और द्रव्य का सन्दर्भ भामह से साम्य रखता है और इसी के अनुसार उन्होंने चार अलंकारों का कथन जाति अलंकार, द्रव्योत्तर, गुणोत्तर और क्रियोत्तर अलंकार-इस रूप में किया-

भामह और दण्डी का रसवदलंकार ही अलंकारदप्पणकार का 'रसिक' अलंकार है। उनका प्रेयोऽलंकार ही अलंकारदप्पण का प्रेमातिशय अलंकार है, किन्तु अलंकारदप्पण का ऊर्जा अलंकार भामह और दण्डी के ऊर्जास्वि अलंकार से भिन्न है, फिर भी इसमें समाहित अलंकार दण्डी और भामह की तरह है। उपमारूपक अलंकार भामह तथा दण्डी के समान अलंकारदप्पणकार को भी मान्य है। इसे परवर्ती आलंकारिक नहीं स्वीकार करते हैं। प्रतिवस्तूपमालंकार भी अलंकारदप्पणकार की दृष्टि से भामह और दण्डी की तरह उपमा का ही भेद है, परवर्ती आलंकारिकों ने उसकी सत्ता स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मानी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकारदप्पणकार की मान्यताएँ प्राचीन आचार्य भामह और दण्डी से ही साम्य रखती हैं। उनका यह कहना कि-

अच्चंतसुन्दरं पि हु निरलंकारं जणम्मि कीरंतं। (३)

काव्य में अलंकारों की निर्विवादरूप से प्रधानता सूचित करता है। इससे ग्रन्थ की प्राचीनता का ही संकेत मिलता है जैसा कि अलंकार सर्वस्वकार आचार्य रुय्यक का कथन है-

तदलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्।

यह तो सुनिश्चित है कि ग्रन्थ नवम शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता क्यों कि रस को ध्वनि न मानकर अलंकार ही मानना इस बात का संकेत है। भामह और दण्डी की मान्यताओं से अलंकारदप्पणकार की समानता और परवर्ती आलंकारिकों से प्रायः असमानता इस तर्क को पुष्ट करता है कि अलंकारदप्पण ग्रन्थ लगभग सातवीं शताब्दी का ही हो सकता है। ग्रन्थ की केवल कारिका बद्ध रूप में संरचना भी इसे प्राचीन बनाती है क्योंकि भामह, दण्डी, उद्भम, रुद्रट के ग्रन्थ कारिकाबद्ध ही हैं, जबकि परवर्ती आलंकारिकों की रचनाएं कारिका और वृत्ति में रचित हैं।

प्रोफेसर सुरेशचन्द्र पाण्डे
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलंकारदप्पण

सुन्दर-पअ-विण्णासं विमलालंकार व्वं रेहिअ सरीरं ।
सुइ-देविअं च कव्वं च पणविअ पवर वण्णड्ढं ।।१।।
सुन्दरपद-विन्यासां विमलालंकारशोभित-शरीराम् ।
श्रुतिदेवीं च काव्यं च प्रणम्य प्रवरवर्णाढ्याम् ।।१।।

अलंकार का लक्षण

सुन्दर पदविन्यास वाले (काव्य के भव्य शब्दविन्यास और श्रुतिदेवता सरस्वती के सुन्दरचरणन्यास) निर्दोष उपमादि अंलकारों से शोभित कलेवर वाले (श्रुतिदेवी पक्ष-निर्मल आभरणों से सुशोभित शरीर वाली) श्रेष्ठ अक्षरों से सम्पन्न (श्रुतिदेवी पक्ष-श्रेष्ठ कान्ति से सम्पन्न) काव्य को एवं वाग्देवी को प्रणाम करके-

सव्वाइं कव्वाइं सव्वाइं जेण होंति भविआइं ।
तमलंकारं भणिमोऽलंकारं कु-कवि-कव्वाणं ।।२।।
सर्वाणि काव्यानि श्रव्याणि येन भवन्ति भव्यानि ।
तमलंकारं भणामोऽलंकारं कुकवि-काव्यानाम् ।।२।।

जिससे सभी श्रव्य काव्य सुन्दर बन जाते हैं और जो कुकवियों के काव्यों को भी अलंकृत कर देते हैं ऐसे अलंकारों को हम कहते हैं ।

अच्चंत-सुन्दरं-पि हु निरलंकारं जणम्मि कीरंतं ।
कामिणि-मुहं व कव्वं होइ पसण्णं पि विच्छाअं ।।३।।
अत्यन्त-सुन्दरमपि खलु निरलङ्कारं जने क्रियमाणम् ।
कामिनी-मुखमिव काव्यं भवति प्रसन्नमपि विच्छायम् ।।३।।

जिस प्रकार लोगों के समक्ष प्रदर्शित प्रसन्न और अत्यन्त सुन्दर भी कामिनी का मुख अलंकार रहित होने से निष्प्रभ लगता है उसी प्रकार प्रसादगुण युक्त भी काव्य लोगों के समक्ष पढ़ा जाता हुआ उपमादि अलंकार रहित होने से फीका लगता है ।

टिप्पणी - अलंकारदप्पण का रचयिता काव्य में अलंकारों को ही मुख्य सौन्दर्याधायक तत्त्व मानता है । उसकी दृष्टि में गुणों की अपेक्षा अलंकारों का होना अधिक महत्त्व रखता है । यह विचार राजा भोज के मत के ठीक विपरीत है जो कहते हैं -

अंलकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ।। सरस्वतीकाण्ठाभरण

अलंकारों की प्रधानता प्राचीन आलंकारिक आचार्य भामह को भी मान्य थी। उनकी दृष्टि में कामिनी का कान्त मुख भी अलंकारशून्य होने से अच्छा नहीं लगता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानन्नम्" (काव्यालंकार)। परवर्ती आलंकारिक आचार्य आनन्दवर्धन की मान्यता इसके विपरीत है। उनके अनुसार जिस प्रकार अंगना का सौन्दर्याधायक तत्त्व लावण्य होता है, अलंकार नहीं, उसी प्रकार काव्य का सौन्दर्य व्यङ्ग्यार्थ में होता है, वाच्यार्थ में नहीं।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्वन्यालोक १/४।।

ता जाणिऊण णिउणं लक्खिज्जइ बहु-विहे अलंकारे ।
जेहिं अलंकारिआइं बहु मण्णिज्जंति कव्वाइं ।।४।।
तत् ज्ञात्वा निपुणं लक्ष्यन्ते बहुविधा अलंकाराः ।
यैरलङ्कृता बहु मन्यन्ते काव्यानि ।।

अच्छी तरह समझकर अनेक प्रकार के उन अलंकारों के लक्षण दिये जाते हैं जिन अलकारों से अलंकृत काव्य बहुत आदर पाते हैं ।

अलंकारों के नाम क्रमशः

उवमा-रूवअ-दीवअ-रोहाणुप्पास-अइसअ-विसेसा (सं)।
अक्खेव-जाइ-वइरेअ-रसिअ-पज्जाअ भणिआउ ।।५।।
उपमा रूपक-दीपक-रोधानुप्रासातिशय-विशेषा ।
आक्षेप-जाति-व्यतिरेक-रसिक-पर्याया भणिताः ।।५।।

उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जाति, व्यतिरेक, रसिक, पर्याय, कहे गए हैं ।

उक्त अलंकारों में 'रोध' तथा 'रसिक' ये दो नए अलंकार माने गए हैं।

जहासंख-समाहिअ-विरोह-संसअ-विभावणा-भावा ।
अत्थन्तरणासो-अण्ण-परिअरो तह सहोत्तिअ ।।६।।
(यथासंख्यसमाहितविरोधसंशयविभावनाभावाः ।
अर्थान्तरन्यासोऽन्यपरिकरस्तथा सहोक्ति च ।।६।।

यथासंख्य, समाहित, विरोध संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, अन्यपरिकर और सहोक्ति ।

उज्जा-अवण्हवइओ पेम्माइसओ उदत्त-परिअत्ता ।
दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा-बहु-सिलेसा अ ।।७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]ऊर्जापह्नव-इतः प्रेमातिशय उदात्तपरिवृत्ताः ।
द्रव्योत्तरक्रियोत्तरगुणोत्तराः बहुश्लेषाश्च ।।७।।

ऊर्जा, अपह्नव, प्रेमातिशय, उदात्त, परिवृत्त (परिवृत्तिः) द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर अनेक प्रकार के श्लेष अलंकार ।

ववएस-थुई (इ) समजोइआ-इअ-अपत्थु अप्पसंसा अ।
अणुमाणमाअरिसो उप्पेक्खा तह अ संसिट्ठी ।।८।।
व्यपदेशस्तुतिः समयोगिता इत अप्रस्तुतप्रंशंसा च ।
अनुमानमादर्श उत्प्रेक्षा तथा च संसृष्टिः ।।८।।

व्यपदेशस्तुति (व्याजस्तुति), समयोगिता (तुल्ययोगिता), अप्रस्तुतप्रशंसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा और संसृष्टिः ।

आसीसा उवमारूवआ च जाणइ णिअरिसिणं तह अ ।
उप्पेक्खा वअवो भेअ-वलिअ-जमएहि संजुत्ता ।।९।।
आशीरुपमा रूपकं च जानीत निदर्शनं तथा च ।
उत्प्रेक्षा च उद्भेदवलितयमकैः संयुक्ता ।।९।।

आशीष, उपमारूपक, निदर्शन, उत्प्रेक्षा उद्भेद, वलित और यमक अलंकार को जानो ।

एत्तिअ मित्ता एए कव्वेसु पडिट्ठिआ अलंकारा ।
अहिआ उवक्कमेणं वीसाओ दोण्णि संखाउ ।।१०।।
एतावन्मात्रा एते काव्येषु प्रतिष्ठिता अलंकाराः ।
अभिहिता उपक्रमेण विंशती द्वे संख्याताः ।।१०।।

काव्यों में इतने (पूर्वोक्त) ही अलंकार प्रतिष्ठित और स्वीकृत हैं जो क्रमानुसार संख्या में चालीस हैं । उनका क्रमशः वर्णन किया जायेगा ।

उपमा अलंकार

उवमाणेणं जा देस-काल-किरिआवरोह-पडिएणं ।
उवमेअस्स सरिसं लहइ गुणेणं खु सा उवमा ।।११।।
उपमानेन या देशकालक्रियावरोधप्रतीपेन ।
उपमेयस्य सदृशतां लभते गुणेन खलु सा उपमा ।।११।।

---

1. "ऊर्जशब्दोऽदन्तः सान्तश्च" रामाश्रयी टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ देशकाल और क्रिया के अनुसार भिन्न स्वरूप उपमान के साथ उपमेय का गुणमूलक सादृश्य प्राप्त होता है वह उपमा अलंकार है।

यहाँ पर अलंकारदप्पणकार गुणसाम्य को उपमा का आधार मानते हैं। शब्दसाम्यमूलक उपमा को वे एक अलग अलंकार मानते हैं जिसे उपमाश्लेष कहते हैं ।

उनका यह उपमालक्षण आचार्य भामह के उपमालक्षण से साम्य रखता है। आचार्य भामह का लक्षण है -

विरुद्धेन उपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।।काव्यालंकार२/३०।।

पडिवत्थू गुणकलिआ असमा माला अ विगुणरूवा अ ।
संपुण्णा गूढा संखला-सिलेसा अ दर-विअला ।।१२।।

प्रतिवस्तु गुणकलिता असमा माला च विगुणरूपा च ।
सम्पूर्णा गूढा शृङ्खला श्लेषा च दरविकला ।।१२।।

एक्क-क्कमा पसंसा तल्लिच्छा णिंदिआ अइसआ अ ।
सुइ-मिलिआ तह अ विअप्पिआ अ सत्तरह उवमाओ ।।१३।।

एकक्रमा, प्रशंसा तल्लिप्सा निन्दिता अतिशया च ।
श्रुतिमिलिता तथा विकल्पिता च सप्तदश उपमाः ।।१३।।

प्रतिवस्तु, गुणकलिता, असमा, माला, विगुणरूपा, सम्पूर्णा, गूढा, शृङ्खला, श्लेषा, दरविकला, एकक्रमा (अन्योन्या), प्रशंसा, तल्लिप्सा, निन्दिता, अतिशया, श्रुतिमिलिता तथा विकल्पिता-ये उपमा के सत्रह भेद हैं । इसके अनन्तर उपमा के भेदों के लक्षण उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम प्रतिवस्तूपमा का विवेचन करता है ।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार का लक्षण

पडिवत्थूए-सा उवमा जा होइ समाण-वत्थु-रूआ अ ।
इव-मिव-पिवाइ-रहिआ वि-सरिस-गुणपअएए आहिन्तो।।१४।।

प्रतिवस्तु एषा उपमा या भवति समानवस्तुरूपा च ।
इव मिव पिवादिरहितापि सदृशगुणप्रत्ययेभ्यः ।।१४।।

प्रतिवस्तूपमा वह होती है जो समान गुणज्ञान के कारण इव, मिव, पिव, आदि वाचक शब्दों से रहित होती हुई भी असमान गुणों के होते हुए भी समान वस्तुरूपा होती है ।

ग्रन्थकार ने प्रतिवस्तूपमा को आचार्य दण्डी तथा भामह के समान ही उपमा का एक भेद माना है, मम्मटादि अन्य आचार्य इसे एक भिन्न अलंकार मानते हैं, अलंकारदप्पण का प्रतिवस्तूपमा लक्षण दण्डी के लक्षण से साम्य रखता है। दण्डी ने प्रतिवस्तूपमा का यह लक्षण दिया है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनं तत्सधर्मणः ।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ।। काव्याद. II/46

आचार्य भामह का यह लक्षण है

समान वस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ।। काव्यालं. II/34

आचार्य मम्मट ने प्रतिवस्तूपमा का यह लक्षण दिया है -

"सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।" एक ही सामान्य धर्म का दो वाक्यों में भिन्नरूप से कथन करने पर प्रतिवस्तूपमा होती है। इस अलंकार में इवादि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होने से साम्य वाच्य न होकर प्रतीयमान होता है ।

पडिवत्थूवमा जहा (प्रतिवस्तूपमा यथा)

संपत्त-तिवग्ग-सुहा थोवा पुहवी-अ होंति णरणाहा ।
महुर-फला (य) सकुसुमा सिणिद्ध-पत्ता तरू विरला ।।१५।।
संप्राप्तत्रिवर्गसुखाः स्तोकाः पृथिव्यां भवन्ति नरनाथाः ।
मधुरफलाश्च सकुसुमाः स्निग्धपत्रास्तरवो विरलाः ।।१५।।

इस पृथ्वी में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का सुख प्राप्त करने वाले राजा कम ही होते हैं । मधुर फलवाले, पुष्पों से युक्त तथा चिकने पत्तों वाले वृक्ष विरल होते हैं।

यहाँ पर दो वाक्यार्थ हैं और दोनों में परस्पर उपमा गम्य है। दोनों वाक्यार्थों में सामान्य धर्म एक ही है किन्तु भिन्न शब्दों में कहा गया है। प्रथम वाक्यार्थ का धर्म है "स्तोकाः" तथा द्वितीय वाक्यार्थ का धर्म है 'विरलाः'। दोनों समानार्थक होते हुए भी भिन्न शब्दों द्वारा कहे गए हैं।

गुणकलिता तथा असमा उपमा का लक्षण

गुणकलिआ सा भण्णइ गुणेहिं दोहि पि सरिसआ जत्थ ।
उवमेओ किर जीअे उवमाणं होइ सा असमा ।।१६।।
गुणकलिता सा भण्यते गुणैर्द्वयोरपि सदृशता यत्र ।
उपमेयः किल जयत्युपमानं भवति सा असमा ।।१६।।

गुणकलिता उपमा वह कही जाती है जहाँ गुणों के कारण दोनों में सादृश्य होता है, असमा उपमा वह है जहाँ उपमेय उपमान को जीत लेता है, अर्थात् उपमेय के सम्मुख कोई उपमान टिकता ही नहीं ।

यहाँ पर असमा उपमा का लक्षण आचार्य दण्डी के 'आसाधारणोपमा' से साम्य रखता है । दण्डी का असाधारणेपमा का लक्षण उदाहरण यह है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रारविन्दयोः कक्ष्यामतिक्रम्य मुखं तव ।
आत्मनैवाभवत् तुल्यमित्यसाधारणोपमा ।। काव्याद. २/३७ ॥

गुणकलिआ जहा (गुणकलिता यथा)

चंपअ-लइव्व णव-कुसुम-सुन्दरा सहइ विंझ-कडइव्व।
वच्छ-त्थलम्मि-लच्छी तमाल-णीले महु-महस्स ।।१७।।
चम्पकलतेव नवकुसुमसुन्दरी शोभते विन्ध्यकट[1] इव ।
वक्षःस्थले लक्ष्मीः तमालनीले मधुमथस्य ।।१७।।

नवकुसुम से सुन्दर चम्पकलता के समान शोभित विन्ध्याचल की कटि के समान मधुमथन (विष्णु) के तमालनील वक्षः स्थल में लक्ष्मी शोभित होती है।

यहाँ पर विन्ध्याचल का नवकुसुमसुन्दर कटिप्रदेश उपमान है तथा मधुमथन का लक्ष्मी से अधिष्ठित वक्षःस्थल उपमेय है । दोनों में गुणसाम्य के कारण गुणकलिता उपमा है ।

असमा जहा (असमा यथा)

जोण्हा णिम्मल-लाअण्ण-पसर-चिंच[2]इअ-सयलभुअणा इ।
तुह तुज्झ व्व किसोअरि ! समाणरूआ जए णत्थि ।।१८।।
ज्योत्स्नानिर्मललावण्यप्रसार चिंचइअ सकलभुवना ।
तव तवेव कृशोदरि समानरूपा जगति नास्ति ।।१८।।

हे कृशादरि ! तुम चाँदनी के समान निर्मल लावण्य के प्रसार से समस्त भुवन को मण्डित करने वाली हो, तुम्हारे समानरूप वाली संसार में (अन्य) नहीं है ।

यहाँ पर कृशोदरी' उपमेय है । उसके सदृश कोई भी उपमान न होने के कारण वह उपमेय उपमान विजयी है, अतः यहाँ असमोपमालंकार है । आचार्य मम्मट के अनुसार यहाँ उपमानलुप्ता उपमालंकार है ।

मालोपमा तथा द्विगुणोपमा का लक्षण

सा माला उवमाणाण जत्थ विविहाण होई रिंछोली[3] ।
विउण सरिसोवमा जा विणिम्मिआ विउणरूअ त्ति ।।१९।।
सा माला उपमानानां यत्र विविधानां भवत्यावलिका ।
विगुणसदृशोपमायां विनिर्मिता विगुणरूपेति ।।१९।।

---

१. "गजगण्डकटी करटौ" अमरकोष । कट शब्द कटि का भी वाचक है ।
२. 'चिंचइअ' देशीशब्द है । इसका अर्थ मण्डित या विभूषित है ।
"चिंचइओ मण्डित इति तु मण्डिधात्वादेशे सिद्धम्" देशीनाममाला ३/१३
३. रिछोली देशी शब्द है। इसका अर्थ है पंक्ति। द्रष्टव्य देशीनाममाला ७/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ (एक उपमेय के लिये) विविध उपमानों की पंक्ति हो वहाँ मालोपमा होती है और जहाँ द्विविध सादृश्यमूलक उपमा होती है वहाँ द्विगुणरूपा उपमा कही जाती है।

मालोवमा जहा (मालोपमा यथा)

हरि-वच्छं व सुकमलं गअणं व भमन्त-सूर सच्छाअं ।
साअर-जलं व करि-मअर-सोहिअं तुह घर-द्दारं ।।२०।।
हरिवक्ष इव सुकमलं गगनमिव भ्रमत्सूरसच्छायम् । (भ्रमच्छूरसच्छायम्)
सागरजलमिव करिमकरशोभितं तव गृहद्वारम् ।।२०।।

जिस प्रकार हरि (विष्णु) का वक्षःस्थल शोभन कमलसे युक्त है, आकाश जैसे (आकाश में) भ्रमण करते हुए सूर्य की कान्तिवाला है उसी प्रकार तुम्हारे घर का द्वार शोभनकमल पुष्पों वाला, घूमते हुए शूरों की कान्तिवाला है और जैसे सागर का जल हाथी और मकरों से सुशोभित है उसी प्रकार तुम्हारा द्वार हाथियों तथा मकर (निधि विशेष) से शोभित है।[१]

यहाँ पर गृहद्वार उपमेय है। उसके लिये तीन उपमान है - हरिवक्ष, गगन और सागरजल। इस प्रकार यहाँ एक उपमेय के लिए तीन उपमानों की पंक्ति के कारण मालोपमा है। इसमें साधारण धर्म शब्दमूलक है, इस प्रकार ग्रन्थकार ने गुणसाम्य और क्रिया साम्य की तरह शब्द साम्य को भी उपमा का प्रयोजक माना है।

विउणरूवोवमा जहा - (द्विगुणरूपोपमा यथा)

णिव्वावारिकअ-भुअणमंडलो सूर-णासिअ पहाओ ।
णाह ! पओसव्व तुमं पाउस-सरिसत्तणं वहसि ।।२१।।
निर्व्वापारीकृतभुवनमण्डलः (निष्पापारीकृतभुवनमण्डलः) सूरनाशितप्रतापः ।
नाथ ! प्रदोष इव त्वं प्रावट्सदृशत्वं वहसि ।।२१।।

हे नाथ ! आप भूमण्डल को क्रियाशून्य करने वाली, सूर्य के ताप को नष्ट करने वाली रात्रि के तथा वर्षा ऋतु के समान आप पापी शत्रु से भूण्डल को विहीन करने वाले और शूर शत्रुओं के प्रताप को भी नष्ट करने वाले है।

यहाँ भूमण्डल को व्यापाररूप गुण से रहित करने के कारण तथा सूर्य का प्रताप तथा शूरों का पराक्रम रूप गुण नष्ट करने के कारण द्विगुणरूपोपमा है। राजा के पक्ष में

---

१. धनाधिपतियों तथा मन्दिरों के तोरणद्वार पर निधियों के चिह्न बनाने की प्रथा प्राचीनकाल में थी, इस प्रसंग में मेघदूत की अधोलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

एभिः साधो हृदय निहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा ।
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च द्रष्टा ।। मेघदूत २२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम पंक्ति की छाया होगी- निष्पापारीकृतभुवनमण्डलः- पापाः अरयः इति पारयः निर्गताः पापारयः यस्मात् तत् निष्पापारि अनिष्पापारि निष्पापारि कृतम् इति निष्पापापारीकृतम् निष्पापापारीकृतं भुवनमण्डलं येन सः ।

संपूर्णोपमा तथा गूढोपमा के लक्षण

ण हु ऊणा ण हु अहिआ जा जाअइ सा हु होई संपुण्णा।
जा उण समास-लीणा सा गूढा भण्णए उवमा ।।२२।।
न खलु ऊना न हु अधिका या जायते सा हु भवति संपूर्णा ।
या पुनः समासलीना सा गूढ़ा भण्यते उपमा ।।२२।।

उक्त कारिका में संपूर्णोपमा तथा गूढोपमा के लक्षण दिये गए हैं । सम्पूर्णा उपमा वह होती है जिसमें (उपमान) न तो न्यून हो और न अधिक हो । जो उपमा समासयुक्त हो वह गूढोपमा होती है।

संपुण्णा जहा (सम्पूर्णा यथा)

सोहसि वअणेण तुमं केअइ-कण्णुल्लिआ-सणाहेण ।
कमलेण वि पासट्ठिअेण मुद्धअ (ड)-हंसेण पसअत्थि ।।२३।।
शोभसे वदनेन त्वं केतकीकर्णिकासनाथेन ।
कमलेनेव पार्श्वस्थितेन मुग्धहंसेन प्रशस्तः ।।२३।।

भोले हंस से शोभित समीपस्थ कमल के सदृश केतकी पुष्प के तालपत्र से युक्त मुख से तुम सुशोभित हो ।

यहाँ पर केतकी का तालपत्र लगाए नायिका का मुख उपमेय है तथा हंस से युक्त कमल उपमान है । उपमान उपमेय दोनों पक्ष न एक दूसरे से बढ़कर है और न कम। अतः संपूर्णोपमा है । 'कण्णुल्लिआ' की छाया कर्णिका है । कर्णिका का अर्थ तालपत्र होता है। 'कर्णिका तालपत्रं स्यात्'-इत्यमरः । तालपत्र कर्णाभरण (कनफूल) को कहते हैं ग्रन्थकारका सम्पूर्णोपमा का स्वरूप संस्कृत आलंकारिकों के लक्षण से मेल नहीं खाता क्योंकि संस्कृत अलंकारशास्त्र में पूर्णोपमा उसे कहते हैं जिसमें उपमा के चारों अंग-उपमान,उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचकपद विद्यमान रहते हैं । इनमें से एक के न रहने पर लुप्तोपमा हो जाती है ।

गूढोवमा जहा (गूढोपमा यथा)

कह पाविहिसि किसोअरि दइअं थण-अलस-खेअ-णीससिरि ।
रंभा गब्भोअर-णिअंब-भार-मसिणेण गमणेण ।।२४।
कथं प्रत्येष्यसि कृशोदरि दयितं स्तनालसखेदनसश्रीके ।
रम्भागर्भोरुनितम्बभार मसृणेन गमनेन ।।२४।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे कृशोदरि ! हे स्तनभार से अलसाई और श्रमयुक्त कान्ति वाली! कदलीगर्भ के समान जंघाभार तथा नितम्बभार के कारण मन्द रम्य गति से प्रिय के पास कैसे पहुँचोगी ।

यहाँ द्वितीय पंक्ति में छः पदों का दीर्घ समास होने के कारण यह गूढोपमा है।

शृंखलोपमा तथा श्लेषोपमा के लक्षण

उवमा वएहिं उत्तिं विडि(ट्टि) रइएहिं संखला होइ ।
उवमिज्जइ उवमेओ जेसिं लेसाण सा लेसा ।।२५।।
उपमावचोभिरुक्तिराविज्झिड्डिरचितैः शृङ्खला भवति ।
उपमीयते उपमेयं यस्मिन् श्लेषाणां सा श्लेषा ।।२५।।

जहाँ पर विस्तार से विरचित उपमावचनों द्वारा उक्ति होती है वहाँ शृंखलोपमा होती है और जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपमेय (वर्णनीय विषय) उपमित होता है वहाँ श्लेषोपमा होती है ।

संखलोपमा जहा (शृंखलोपमा यथा)

सग्गस्स व कणअ-गिरी कंचण-गिरिणु व्व महिअल होउ।
महिवीढस्स वि भर-धरण-पच्चलो तह तुमं चेअ ।।२६।।
स्वर्गस्येव कनकगिरिः काञ्चनगिरेरिव महीतलं भवतु ।
महीपीठस्यापि भरधरणसमर्थस्तथा त्वं चैव ।।२६।।

जैसे स्वर्ग के भार को सुमेरु पर्वत और सुमेरुपर्वत के भार को पृथ्वी धारण करती है वैसे भाराक्रान्त महीतल के भी भार को धारण करने में हे राजन् ! तुम्हीं समर्थ हो। सुमेरुपर्वत के ऊपर स्वर्ग है । इसीलिये सुमेरुपर्वत को 'सुरालय' भी कहते हैं।

'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानु सुरालम्' इत्यमरः ।

प्रस्तुत श्लोक में उपमानों की विस्तृत शृंखला उपनिबद्ध होने के कारण शृंखलोपमालंकार है ।

इसी अलंकार से साम्य रखने वाले अलंकार को आचार्य दण्डी ने मालोपमा अलंकार कहा है । उसका उदाहरण है

पूष्णयातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासरः ।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा मता ।।४२।। काव्यार्श २/४२

जिस प्रकार तेज सूर्य में, सूर्य दिन में, दिन आकाश में प्रकाश देता है उसी प्रकार शौर्य ने आपमें श्री का आधान किया है ।

ग्रन्थकार का यह शृङ्खलोपमालंकार परवर्ती आचार्यों के 'रशनोपमा' अलंकार के समान है- 'कथिता रशनोपमा। यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता' साहित्यदर्पण १०/२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेसोपमा जहा (श्लेषोपमा यथा)

सो संसारो असमो चल पेम्मो जो जणो सुहओ सो किं ।
भासइ संसाराए णव जो (व्वणवइ) ण रिंछोली ।।२७।।
स संसारोऽसमश्चलप्रेमा यो जनः सुभगः सः किम् ।
भासते संसारे नवयौवनवतीनामावलिका ।।२७।।
सः संसारोऽसमोऽचलप्रेमा यो जनः सुभगः स किम् ।
भासते संसारे नवयौवनवतीनामावालिका ।।२७।।

संसार बड़ा विषम है । जो अचल प्रेम वाला है क्या वह भाग्यशाली है क्योंकि संसार में नवयौवनवती स्त्रियों की पंक्ति ही दिखाई देती है ।

'दरविकला' तथा 'एकक्रमा' उपमा का लक्षण

सुसरिसमा पखेवं विअलइ सच्चेव होइ दरविअला ।
एक्कक्कमोवमाणेहिं होइ एक्कक्कमा णाम ।।२८।।
सुरसरित्समा प्रक्षेपं विचलति सैव भवति दरविचला ।
एकक्रमोपमानैः भवत्येकक्रमा नाम ।।२८।।

जो अच्छी नदी के समान उसमें फेंकी गई वस्तु को थोड़ा विचलित कर देती है वही दरविचला (दरविकला) उपमा होती है और एक क्रम से उपनिबद्ध उपमानों से एकक्रमोपमा होती है ।

दरविअला जहा (दरविकला यथा)

पीणत्थणी सरूआ पह-पेसिअ-लोअणा स-उक्कंठा ।
लिहिय-व्व दार-लग्गा ण चलइ तुह दंसणासाए ।।२९।।
पीनस्तनी सरूपा पथप्रेषितलोचना सोत्कण्ठा ।
लिखितेव द्वारलग्ना न चलति तव दर्शनाशायै ।।२९।।

तुम्हारे दर्शन की आशा के कारण द्वार पर खड़ी पीनस्तनी, रूपवती मार्ग में आँखें विछाए हुई, उत्कण्ठित (नायिका) द्वार पर चित्रलिखित के समान नहीं चलती अर्थात् निश्चल भाव से प्रतीक्षा कर रही है ।

यहाँ पर चित्रलिखित के समान नायिका को बताया गया है । साम्य केवल नायिका के निश्चल भाव का ही है अन्य पीनस्तनत्व, उत्कण्ठात्व, प्रेषितलोचनत्व आदि का नहीं। अतः यह दरविकला उपमा है । दर का अर्थ है 'भय' या थोड़ा (ईषत्), विकल का अर्थ है म्लान, अवसन्न, स्फूर्तिहीन इत्यादि। इस प्रकार दरविकला का शाब्दिक अर्थ है भय के कारण म्लान अथवा ईषत् अवसन्न । ऐसी स्थिति में उक्त श्लोक में अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई नायिका की उपमा है । इसलिये नायिका की अवस्था विशेष के अनुसार भी 'दरविकला' उपमा नाम दिया गया है।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

एकक्कमा जहा (एकक्रमा यथा) -

पअइ विमलाओ दोण्णि वि विबुहजणे (हिं) णिव्वुई-कराओ अ।
एकक्कम सरिसाओ तुह कित्ती तिअस-सरिआ अ ।।३०।।
प्रकृति विमले द्वे अपि विबुधजनयोः निर्वृतिकरे च ।
एकक्रमसदृशी तव कीर्तिः त्रिदशसरिच्च ।।

प्रकृत्या निर्मल, देवताओं और विद्वज्जनों दोनों के लिये आनन्द देने वाली तुम्हारी कीर्ति और सुरसरित् (आकाश गंगा) एक समान है ।

एक्कक्कम या एक्केक्कम का अर्थ है 'परस्पर' (द्रष्टव्य पाइअसद्दमहण्णवो) ऐसा अर्थ करने पर भावार्थ यह होगा-तुम्हारी और देवताओं की कीर्ति परस्पर निर्वृति प्रदान करने वाली है । यहाँ पर राजा की कीर्ति उपमेय है और देवताओं की कीर्ति उपमान । दोनों में परस्पर निर्वृतिकरत्व होने से यह एकक्रमोपमालंकार है ।

निन्दाप्रशंसोपमा तथा तल्लिप्सोपमा का लक्षण

णिंदाए सलहिज्जइ उवमेओ जत्थ सा पसंसत्ति ।
अणुहरइ अइसओणं जा स च्चिअ होइ तल्लिच्छा ।।३१।।
निन्दया श्लाघ्यते उपमेयं यत्र सा प्रशंसेति ।
अनुहरत्यतिशयेन या सैव भवति तल्लिप्सा ।।३१।।

जहाँ निन्दित उपमान से उपमेय की प्रशंसा की जाती है वह निन्दा प्रशंसोपमा है और जहाँ उपमेय उपमान का अतिशय अनुकरण करता है वह तल्लिप्सा उपमा है ।

णिंदापसंसा जहा (निन्दाप्रशंसा यथा)

तुह संढस्स व णरवर भुज्जइ भिच्चेहिं पाअडा लच्छी।
हिअआइं काअरस्स व वअणिज्ज-भएण ओसरइ ।।३२।।
तव षण्डस्येव नरवर भुज्यते भृत्यैः प्राकृता लक्ष्मीः ।
हृदयानि कातरस्येव वचनीयभयेन अपसरति ।।३२।।

हे राजन् ! नपुंसक की लक्ष्मी के समान आपकी नैसर्गिक लक्ष्मी का उपभोग भृत्यगण कर रहे हैं । कायर के हृदय के समान (लक्ष्मी) निन्दा के भय से दूर हटती है।

यहाँ पर राजा की लक्ष्मी का नपुंसक की लक्ष्मी से सादृश्य दिखाने के कारण निन्दा है किन्तु भृत्यगणों के द्वारा राजा की धनसम्पत्ति का उपभोग किया जाना राजा की उदारता का द्योतक होने से प्रशंसा है । अतः यह निन्दा प्रशंसोपमा है।

आचार्य दण्डी ने निन्दोपमा तथा प्रशंसोपमा - ये उपमा के पृथक् भेद माने हैं। उनके उदाहरण हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम् ।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ।।काव्याद. २/३०।।
ब्रह्माणोप्युद्भवः पद्म[1]श्चन्द्रः शम्भुशिरोधृतः ।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमोच्यते ।।काव्याद. २/३१।।

अलंकारदप्पणकार के निन्दाप्रशंसोपमा को हम 'व्याजस्तुति' अलंकार में अन्तर्भूत नहीं कर सकते क्योंकि व्याजस्तुति में निन्दा वाच्य होने पर स्तुति व्यंङ्ग्य होती है अथवा इसका विपर्यय भी हो सकता है किन्तु यहाँ पर आपाततः निन्दाप्रतीति होती हुई भी पार्यान्तिक रूप से प्रशंसा ही वाच्य होती है ।

भरत के नाट्यशास्त्र में केवल चार काव्यालंकार माने गए हैं- उपमा, दीपक, रूपक, और यमक । इनमें से भरत ने उपमा के पाँच भेद माने हैं- प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किञ्चित्सदृशी ।

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा पुनः ।।ना.शा.१६/५०

प्रशंसोपमा का उदाहरण इस प्रकार है -

दृष्ट्वा तु तां विशालाक्षीं तुतोष मनुजाधिपः ।
मुनिभिः साधितां कृच्छ्रात् सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।।

नाट्यशास्त्र में निन्दा उपमा का उदाहरण -

सा तं सर्वगुणैर्हीनं सस्वजे कर्कशच्छविम् ।
वने कण्ठगतं वल्ली दावदग्धमिव द्रुमम् ।।१६/५२

कल्पितोपमा का उदाहरण -

क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिनः ।
मतङ्गजा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वताः ।।१६/५३

अलंकारदप्पणकार निन्दाप्रशंसोपमा के विवेचन में नाट्यशास्त्र के उपमाविवेचन से प्रभावित है।

तल्लिच्छोवमा जहा (तल्लिप्सोपमा यथा)-

पाउस-णिसासु सोहइ जलप्पहाणेहि पूरिआ पुहई ।
चल-विज्जु-वलय-वाडण-णिवडिअखणत्त-सरिसेहिं ।।३३।।
प्रावड्निशासु शोभते जलपाषाणैः पूरिता पृथ्वी ।
चल विद्युद्वलयपाटननिपतित खणखणायितसदृशैः ।।३४।।

चंचल विद्युद्रूपी कंकण के टूटने से गिर कर खनखन शब्द करते हुए के समान

---

१. "वा पुंसि पद्मं नलिनम्" इत्यमरकोषात् पद्मशब्दस्य पुंस्त्वम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरसे हुए ओलों (जलपाषाणों) से पूरित पृथ्वी वर्षाकाल की रातों में शोभित हो रही है ।

निन्दोपमा तथा अतिशयितोपमा का लक्षण

उवमेओ णं णिंदिज्जइ थुइ-ववएसेणं जत्थ सा णिंदा ।
अइसअ-भणिआ स च्चिअ अइस (इ) आ भण्णए उवमा ।।३४।।
उपमेयं निन्द्यते स्तुतिव्यपदेशेन यत्र सा निन्दा ।
अतिशयभणिता सैव अतिशयिता भण्यते उपमा ।।३४।।

प्रशंसा के व्याज से जहाँ उपमेय की निन्दा की जाती है वह निन्दितोपमा है और जहाँ उपमेय का अतिशय कथन होता है वह अतिशयितोपमा है।

यहाँ निन्दतोपमा में पूर्वोक्त निन्दाप्रंशसोपमा के ठीक विपरीत कथन है। निन्दाप्रशंसा में निन्दा के व्यपदेश से प्रशंसा का कथन है तथा निन्दतोपमा में स्तुति के व्यपदेश से निन्दा का कथन होता है । पूर्वोक्त अलंकार में प्रशंसा तथा दूसरे में निन्दा ही पर्यवसायी अर्थ होता है।

सुअणिंदोवमा जहा (श्रुतनिन्दोपमा यथा)

तंबोल-राअ-मिलिअंजणेण अहरेण सोहसि पओसे ।
दरपरि (णि) णअ जंबूहलकन्ति सरिसेण पिहु अत्थि ।।३५।।
ताम्बूलरागमिलिताञ्जनेन अधरेण शोभसे प्रदोषे ।
दरपरिणितजम्बूफलकान्तिसदृशेनापि खल्वस्ति ।।३५।।

सन्ध्याकाल में तुम पान की रक्तिमा से लिप्त अधरोष्ठ से सुशोभित हो रही हो । तुम्हारा वह अधर थोड़ा पके हुए जामुन के फल की कान्ति के सदृश कान्ति वाला भी हो रहा है ।

यहाँ पर यदि रक्त अधर की उपमा बिम्बफल से दी गई होती तो अधर की वास्तविक शोभा होती । जम्बूफल ईषद् कालिमा से युक्त होने के कारण रक्ताधार का समीचीन उपमान न होने से निन्दिता उपमा है, रक्तकृष्ण जामुन के फल के साथ सादृश्य स्थापित करने के लिये अधर को ताम्बूल राग से संपृक्त कज्जल की कान्ति से युक्त बताकर उपमेय को किंचित् निन्दनीय स्तर पर पहुंचा दिया । निन्दित उपमान से उपमेय भी निन्दित हो गया । इसी से मिलता-जुलता अलंकार व्याजनिन्दा अलंकार भी है । जिसका कुवलयानन्द में यह लक्षण है -

' निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते ।-कुव० ७२।।
विधे स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिरः ।।७२।।

निन्दोपमा का काव्यादर्श में यह उदाहरण है -

पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम् ।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ।।२/३०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अइसइय उवमा जहा (अतिशयितोपमा यथा)

जोण्हा-भअ-सरणागअ-तिमिर-समूहेहिं णिज्जिअ मिअंकं ।
सेविज्जइ वअणं सास-गन्ध-लुद्धेहिं भसलेहिं ।।३६।।
ज्योत्स्नाभयशरणागततिमिरसमूहैः निर्जितमृगाङ्कम् ।
सेव्यते वदनं श्वासगन्धलुब्धैः भ्रमरैः ।।३६।।

(नायिका के) श्वास के सौरभ के लोभी भ्रमरगण चन्द्रमा को जीतने वाले नायिकामुख का सेवन कर रहे हैं। वे भ्रमरगण चाँदनी के भय से शरणागत अन्धकार समूह के सदृश हैं। यहाँ पर भ्रमरगण उपमेय हैं उसका सादृश्य तिमिर समूह से दिखाया गया है। सदृश, तुल्यादि शब्दों के अभाव से वाचकलुप्ता उपमा है। सौरभ के लोभ से नायिका के मुखमण्डल पर भ्रमरराशि का मंडराना तथा उसे ज्योत्स्ना के भय से शरणागत अन्धकार राशि बताना अतिशयता का जनक होने से अतिशयउपमा (अतिशयितोपमा) है। अतिशयोपमा को आचार्य दण्डी ने भी उपमाभेद रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने उदाहरण द्वारा ही उसे समझाया है। उनका उदाहरण है-

त्वय्येव त्वन्मुखं दृष्टं दृश्यते दिवि चन्द्रमाः ।
इत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा ।। काव्यादर्श २/२२

टीकाकार ने इसे इस प्रकार समझाया है - उपमानोपमेययोः गुणक्रियादिभिः महत्यपि भेदे किंचिदभेदप्रदर्शनपुरःसरं नान्यो भेद इति अभिन्नाध्यवसानेन उपमेयस्य गुणक्रियातिशयो वर्णितो भवति, अत अतिशयोपमो।

श्रुतिमिलिता तथा एकविकल्पिता और अनेकविकल्पिता उपमा का लक्षण

जा सरिसएहिं वज्झइ सद्देहिं सा हु होइ सुइ-मिलिआ।
एक्काणिक्क-विअप्पण-भेएण विअप्पिआ दुविहा ।।३७।।
या सदृशै र्बाध्यते शब्दैः सा भवति श्रुतिमिलिता ।
एकानेकविकल्पनभेदेन विकल्पिता द्विविधा ।।३७।।

जो सदृश आदि शब्दों से रहित होती है वह श्रुतिमिलिता उपमा है और जो एक या अनेक विकल्पों से युक्त है वह विकल्पिता उपमा होती है। भरतमुनि ने उपमा के चार भेदों में कल्पितोपमा नामक भेद स्वीकार किया है।

सुइमिलिउवमा जहा -

श्रुतिमिलितोपमा का उदाहरण इस प्रकार है -

दट्ठूण परकलत्तं छन्दा वडिअं[1] मणोहरं कव्वं ।
खिज्जइ खलो विअंभइ दूसइ दोसं अपेच्छन्तो ।।३८।।

---

१. वडिअं = गृहीतम् - पाइअसइमहण्णवो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्ट्वा परकलत्रं छन्दः[1] पतितं (छन्दोगृहीतं) मनोहरं काव्यम् ।
खिद्यते खलो विजृम्भते दूषयति दोषमप्रेक्षमाणः ।।३८।।

दूसरे की छन्दः पतित (वशंवदा) तथा मनोहर स्त्री को देखकर दुष्ट पुरुष खिन्न होते हैं जैसे छन्दोबद्ध मनोग्राही काव्य को देखकर खलजन (काव्य में) दोष न देखता हुआ भी दोष निकालता है और (उसके प्रति अरुचि के कारण) जँभाई लेता है ।

यहाँ पर परकलत्र उपमान है और काव्य उपमेय । दोनों में खेदन रूप साधारण धर्म है । सदृशादि उपमावाचक के अभाव में यह श्रुतिमिलिता उपमा है।

एक्कत्थ-विअप्पिओवमा जहा - (एकत्र विकल्पितोपमा यथा)

परिभमण-वइ-णिवुच्चिअ संपीडिअ-बहल रेणुणि अच्छआ ।
णहसु अणड[2] वंसा इव वाआवत्ता मुणिज्जंते ।।३९।।
परिभ्रमण वृत्तया निर्वृत्तसंपीडितबहलरेणुनिचयाः वा ।
नभःसु जारव्यंसका (जारवंशा) एव वातावर्त्ता मन्यन्ते ।।३९।।

वात्याचक्र (वातावर्त्त, बवण्डर) चतुर जारों की तरह लग रहे हैं, जो परिभ्रमण वृत्ति वाले तथा प्रभूत धूलिराशि को अपने में समेटे हुए हैं ।

यहाँ पर परिभ्रमणवृत्तिता तथा रजोगुणवृत्तिता के कारण वात्याचक्र की चतुर जारों के साथ उपमा दी जा रही है । जार रजोगुणीस्वभाव वाले होने के कारण परिभ्रमणशील होते हैं तथा वात्याचक्र में धूलिराशि मण्डलाकार घूमती दिखाई देती है।

बहुहा विअप्पिउवमा जहा -(बहुधा विकल्पितोपमा यथा)-

सूरम्मि दाव जलणे व्व वोलिउ णहअलं वअरसं व ।
पच्छिम (दि) णिसिअरेण व तमेण कसिणीकअं सअलं ।।४०।।
सूर्ये तावज्जल इव व्रूडितो नभश्चरं वायसमिव ।
पश्चिमनिशिचरेण इव तमसा कृष्णीकृतं सकलम् ।।४०।।

सूर्य के (पश्चिमी) समुद्रजल में डूब जाने पर (अर्थात् अस्त हो जाने पर) पश्चिम दिशा के निशाचर के समान अन्धकार ने आकाशचारी कौवे के समान सभी को काला बना दिया है । यहाँ पर कृष्णता की वायस तथा निशाचर इन अनेक उपमानों के रूप में कल्पना किये जाने से बहुधाविकल्पितोपमा है ।

उवमालक्खणं समत्तं - उपमालक्षणं समाप्तम् ।
उपमालंकार का लक्षण समाप्त हुआ ।

---

१. अभिप्रायवशौ छन्दो-अमर.
२. 'आणडो अणाडो अविणयवरो त्रयोप्यमी जारार्था' देशी० १/१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपक अलंकार

उवमाणेणुवमेअस्स जं च रूविज्जअे वि रूविअं खु ।
दव्व गुण सम्मअं तं भणन्ति इह रूवअं कइणो ।।४१।।
उपमानेनोपमेयस्य यच्च रूप्यते (रूप्यमाने)अपि रूपितं खलु ।
द्रव्यगुणसम्मत्तं तद् भणन्ति इह रूपकं कवयः ।।४१।।

जहाँ पर उपमेय का उपमान से द्रव्य गुण सम्मत (अभेद) निरूपित किया जाता है उसे कविगण रूपक अलंकार कहते हैं। रूपित का अर्थ उपमान है और रूप्यमान उपमेय का पर्याय है। अलंकारदप्पणकार का यह रूपक लक्षण तथा रूपक भेद निरूपण आचार्य भामह के रूपक से साम्य रखता है।

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ।। काव्यालं.२/२१
समस्त वस्तु विषयमेकदेशविवर्ति च ।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्तच्चोच्यते यथा ।।२/२२।।

आचार्य विश्वनाथ ने सहित्यदर्पण में रूपक का यह लक्षण किया है -

'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे'

विषय (उपमेय) में रूपित (उपमान) का आरोप ही रूपक अलंकार है। अलंकारदप्पणकार ने रूपक के दो भेद किये हैं - सकल व वस्तुरूपक तथा एकैक देश रूपक। इसी को आचार्य मम्मट के शब्दों में समस्तवस्तुविषय तथा एक देशविवर्तिरूपक कहा गया है। इन दो भेदों का विवेचन करते हुए अलंकारदप्पणकार कहते हैं -

तं चिअ दुविहं जाअइ समत्थ-पाअत्थ-विरअणा-जणिअं ।
पढवं वीअं एक्केक्क-देस-परिसंठिअं होइ ।।४२।।
तदेव द्विविधं जायते समस्तपदार्थविरचनाजनितम् ।
प्रथमं द्वितीयमेकैकदेशपरिसंस्थितं भवति ।।४२।।

वह (रूपकालंकार) दो प्रकार का होता है, पहला समस्त पदार्थरचना से उत्पन्न तथा दूसरा एकदेश में संस्थित।

आचार्य मम्मट के 'समस्तवस्तुविषय' और 'एकदेशविवर्ति' रूपक ही अलंकारदप्पणकार के उक्त दो रूपक भेद हैं। ये दोनों भेद मम्मट ने साङ्ग रूपक के माने हैं। जब अङ्गी रूपक के साथ सभी अंगों में रूपण होता है अर्थात् सभी अंगी और अंगों में उपमान उपात्त रहता है उसे "समस्तवस्तुविषयरूपक" कहते हैं और जब साङ्गरूपक में कुछ स्थानों में उपमान शब्दोपात्त होते हैं और कुछ में अर्थबल से लभ्य होते हैं तब 'एकदेशविवर्तिरूपक' होता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेआ णामेहिं चिअं हरिअ-च्छाएहिं रूवआण कया ।
अत्थो लभिज्जइ च्चिअ सअले अर रूअआहिन्तो ।।४३।।
भेदाः नामभिरेवं हरितच्छायै रूपकाणां कृताः।
अर्थो लभ्यते चैव सकलः वररूपकात् ।।४३।।

सुन्दर कान्ति वाले नामों से रूपकों के भेद किये गए हैं। श्रेष्ठ रूपक (योजना) से समस्त अर्थ की प्रतीति हो ही जाती है।

सकलवत्थुरूअअं जहा -(सकलवस्तुरूपकं यथा)

गअणसरोयं पेच्छह पाउसम्मि तणु-किरण-केसर-सणाहं।
तारा-कुसुममिव-वणं महभरणमउलं समवक्कमइ ।।४४।।
गगनसरोजं प्रेक्षस्व प्रावृषि तनुकिरणकेसरसनाथम् ।
ताराकुसुममिव वनं महभरणीमुकुलं समवक्रामति ।।४४।।

वर्षाकालीन चन्द्रमा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है - आकाश के कमल को देखो जो वर्षाकाल में क्षीण किरण रूपी किंजल्क से युक्त होकर तारे रूपी फूलों वाले, तेजोयुक्त भरणीनक्षत्ररूपी मुकुल वाले वन को आक्रान्त कर रहा है।

यहाँ पर चन्द्र में कमल का आरोप, किरण में केसर का आरोप, तारा में पुष्प का आरोप, भरणीनक्षत्र में मुकुल का आरोप और गगन में वन का आरोप होने के कारण समस्तवस्तु रूपक है।

समस्तवस्तुविषय रूपक का एक सुन्दर उदाहरण आचार्य उद्भट ने इस प्रकार दिया है-

ज्योत्स्नाम्बुरेन्दुकुम्भेन ताराकुसुमशारितम् ।
क्रमशो रात्रिकन्याभिर्व्योमोद्यानमसिच्यत ।।

चांदनी रूपी जल वाले चन्द्र रूपी घड़े से रात्रिरूपी कन्याओं द्वारा तारे रूपी फूलों से चित्रित आकाशरूपी उद्यान सींचा गया।

एक्केकदेसरूवअं जहा- (एकैकदेशरूपकं यथा)

अविरअ पसरिय धारा-णिवाअ-णिट्ठविय पंथिअ समूहो ।
मारिहइ मं सदइअं पि णिक्किवो पाउस चिलाओ ।।४५।।
अविरतप्रसृत-धारा-निपात-निस्थापितपथिकसमूहः ।
मारयिष्यति मां सदयितमपि निष्कृपः प्रावृट्किरातः ।।४५।।

वर्षाकाल रूपी निर्दय किरात निरन्तर धारासम्पात से पथिकजनों को विस्थापित करने वाला दयिता से युक्त भी मुझे मार डालेगा।

यहाँ पर उपमेय प्रावृट् में उपमान किरात का आरोप होने से एकैकदेशरूपक है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ केवल एक अंग में ही रूपक है। आचार्य मम्मट के अनुसार यहाँ निरङ्गरूपक होगा।

दीपक अलंकार

दीविज्जइ पआइं एक्काए चेअ जत्थ किरिआए ।
मुह मज्झंतगआ ए-तं भण्णइ दीवि(व)अं तिविहं ।।४६।।
दीप्यन्ते पदानि एकयैव यत्र क्रियया ।
मुखमध्यान्तगतेन भण्यते दीपकं त्रिविधम् ।।४६।।

जहाँ पर एक ही क्रिया के द्वारा अनेक पद दीपित किये जाते हैं अर्थात् एक क्रियापद अनेक कारक पदों में अन्वित होता है उसे दीपक कहते हैं। यह दीपक आदि मध्य और अन्त के भेद से तीन प्रकार का होता है। क्रिया के आदिगत, मध्यगत, अन्तगत होने पर यह तीन भेद किये जाते हैं। आचार्य भामह ने काव्यालंकार में आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक- ये दीपक के तीन भेद किये हैं।

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा ।।काव्यालंकार २/२५

आचार्य मम्मट ने इस प्रकार के तीन भेद नहीं स्वीकृत किये, इन तीनों भेदों का अन्तर्भाव उनके क्रियादीपक में ही हो जाता है ।

मुहदीवअं जहा (मुखदीपकं यथा)

भूसिज्जन्ति गअंदा मअेण सुहडा उ असिप्पहरेण ।
गइतुरएणं तुरआ सोहग्ग-गुणेण महिलाओ ।।४७।।
भूष्यन्ते गजेन्द्राः मदेन सुभटास्तु असिप्रहारेण ।
गतित्वरितेन तुरगाः सौभाग्यगुणेन महिलाः ।।४७।।

हाथी मद से, सुयोद्धा खड्गप्रहार से, घोड़े गति की शीघ्रता से और महिलाएँ सौभाग्य गुण से सुशोभित होते है ।

यहाँ पर 'भूष्यन्ते' इस एक क्रिया का सभी कारकों (गजेन्द्राः, सुभटाः, तुरगाः और महिलाः) के साथ अन्वय होने से दीपक अलंकार है और क्रियापद के आदि में रहने से मुखदीपक है ।

मज्झदीवअं जहा (मध्यदीपकं यथा)

सुकवीण जसो सुराण धीरिमा ईहिअं णरिंदाणं ।
केण खलिज्जइ पिसुणाण दुम्मई भीरुआण भअं ।।४८।।
सुकवीनां यशः शूराणां वीरता (धीरता) ईहितं नरेन्द्राणाम् ।
केन स्खल्यते पिशुनानां दुर्मतिः भीरुकाणां भयम् ।।४८।।

सुकवियों का यश, शूरों की वीरता, राजाओं का अभीष्ट, पिशुनजनों की दुर्बुद्धि तथा भीरुजनों का भय किसके द्वारा निष्फल किया जा सकता है । यहाँ पर 'खलिज्जई' इस एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया का जसो 'वीरिमा', 'ईहिअं', 'दुम्मई', 'भअं' इन सभी के साथ अन्वय होने से दीपक अलंकार है। खलिज्जई पद के वाक्य के मध्य में होने से मध्यदीपक है।

अन्तदीविअं जहा- (अन्तदीपकं यथा)

सत्थेण बुहा दाणेण पत्थिवा गुरु-तवेण जइणिवहा।
रण-साहसेण सुहडा मही-अले पाअडा होंति ।।४९।।
शास्त्रेण बुधा दानेन पार्थिवा गुरुतपसा यतिनिवहाः।
रणसाहसेन सुभटा महीतले प्रावृता भवन्ति ।।४९।।

शास्त्र से विद्वान, दान से राजा, उग्र तपस्या से यति (संयमी) समूह, युद्ध में साहस से सुयोद्धा पृथ्वी में छाए रहते हैं।

यहाँ पर पाअडा (प्रावृताः) इस एक पद के 'बुद्धा' 'पत्थिवा' 'जइणिवहा' 'सुहडा' के साथ अन्वित होने से दीपक अलंकार है तथा इस पद (पाअडा) के वाक्य के अन्त में स्थित होने से अन्तदीपक है।

आचार्य मम्मट ने दीपक अलंकार का यह लक्षण दिया है -

सकृद्वत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।। का.प्र.

प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक का एक धर्म से सम्बन्ध होना दीपक अलंकार है। यदि एक ही क्रिया सभी कारकों से सम्बद्ध हो तो क्रिया दीपक और यदि एक 'कारक' अनेक क्रियाओं से अन्वित हो तो कारक दीपक कहलाता है।

अलंकारदप्पणकार ने उक्त भेदों को न स्वीकार कर केवल सभी के साथ अन्वित होने वाले एक पद की आदि मध्य अथवा अन्त में स्थिति के अनुसार आदि दीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक माना है। आचार्य दण्डी तथा भामह ने भी आदि मध्य और अन्त दीपक स्वीकार किया है -

इत्यादिदीपकान्युक्तान्येवं मध्यान्तयोरपि।
वाक्ययोर्दर्शयिष्यामः कानिचित् तानि तद्यथा।। काव्यादर्श-२/१०२

इसके बाद 'रोध' और 'अनुप्रास' इन दो अलंकारों का लक्षण देते हैं।

रोध अलंकार

अद्ध भणिअं णिरुंभइ जस्सिं जुत्तीअ होइ सो रोहो।
पअ-वण्ण-भेअ-भिण्णो जाअइ दुविहो अणुप्पासो ।।५०।।
अर्द्धभणितं निरुध्यते यस्मिन् युक्त्या भवति स रोधः।
पदवर्णभेदभिन्नो जायते द्विविधोऽनुप्रासः ।।५०।।

जहां पर आधी कही बात को किसी युक्ति के द्वारा रोक दिया जाता है वह रोध अलंकार हैं। पद और वर्ण के भेद से अनुप्रास अलंकार दो प्रकार का होता है।

अलंकारदप्पणकार उपमा, रूपक और दीपक अलंकारों के विवेचन के अनन्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'रोध' अलंकार का लक्षण देते है । काव्यादर्शकार दण्डी ने भी पहले उपमा रूपक और दीपक यही अलंकार क्रम रखा है 'रोध' अलंकार उन्हें मान्य नहीं है । दण्डी ने दीपक के अनन्तर आक्षेप अलंकार रक्खा है जिसका लक्षण अलंकारदप्पण के रोध' अलंकार से साम्य रखता है। उनके आक्षेप का लक्षण है -

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा ।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ।।काव्यादर्श २/१२०।।

अलंकारदप्पणकार ने रोध अलंकार के लक्षण में 'अद्धभणिअं निरुम्भइ' कहकर प्रतिषेधोक्ति को ही संकेतित किया है । 'काव्यादर्श' में आक्षेप अलंकार के आक्षेप्य के भेदों की अनन्तता के कारण अनन्त भेद माने है । चौबीस भेदों के तो उसमें उदाहरण ही मिलते हैं।

आचार्य मम्मट ने आक्षेप का यह लक्षण किया है -

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।।का.प्र. १०/१०६।।

रोहो जहा (रोधो यथा)

कोण-वलइतेण विणा मा भणसु अ पुलइएहिं पासेहिं ।
अइ-रहस जंपिआइं हवन्ति पच्छा अपत्थाइं ।।५१।।
कोणवलयितेन विना मा भण च पुलकितैः पार्श्वैः ।
अतिरभसजल्पितानि भवन्ति पश्चादपथ्यानि ।।५१।।

कोने में (नेत्रों को) घुमाए विना (अर्थात् अगल बगल देखे विना) मत बोलो और (श्रवणोत्कण्ठा से) पुलकित हुए पार्श्वस्थ लोगों से भी (सहसा) मत बोलो । क्योंकि अत्यधिक शीघ्रता में बोले गए वचन बाद में अकल्याणकारी होते हैं ।

प्रस्तुत स्थल में अविचारित भाषण करने वाले को अर्थान्तराक्षेप के द्वारा रोका जा रहा है । अतः यह आचार्य दण्डी के अर्थान्तराक्षेप अलंकार से अंशतः तुलनीय है,

पा (प) आणुप्पासो जहा- (पदानुप्रासो यथा)

ससि-मुहि मुहस्स लच्छीं थणसालिणि थणहरं पि पेच्छंती ।
तणुआअइ तणुओअरि हलि-सुओ कहसु जं जुत्तं ।।५२।।
शशिमुखि मुखस्य लक्ष्मीं स्तनशालिनि स्तनभारमपि प्रेक्षमाणा ।
तनुकायते तनुकोदरि सखीसु भो कथय यद् युक्तम् ।।५२।।

हे चन्द्रमुखि ! शोभन स्तनों वाली तू (अपने) मुख की कान्ति और स्तनभार को देखती हुई दुबली होती जा रही है । हे कृशोदरि ! सखियों से जो उचित (विरह वेदना) है, उसे कह दे ।

नायिका विरह के कारण कृश होती जा रही है उसकी मुख की कान्ति तो सुन्दर बनी हुई है किन्तु स्तनभार में तथा शरीर में कृशता आ गई है । उसकी सखियाँ उससे अपने

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

दु:ख को उनसे बताने के लिये आग्रह कर रही हैं जिससे उसकी वेदना कम हो सके।

उक्त उदाहरण में 'मुहि मुह' 'तणुआ तणुओ' में वर्णसाम्य के कारण पदानुप्रास अलंकार है। अन्य आलंकारिकों के अनुसार यह छेकानुप्रास है।

वण्णाणुप्पासो जहा (वर्णानुप्रासो यथा)

वाअंति सजल-जलहर-जल-लव-संवलण-सीअअल-प्फंसा ।
फुल्लं धुअ-धुअ कुसुमच्छलंत-गंधुद्धुरा-पवणा ।।५३।।
वान्ति सजलजलधर जललवसंवलनशीतलस्पर्शाः ।
फुल्लबन्धूकधुत कुसुमोच्छलद्गन्धोद्धुराः पवनाः ।।५३।।

सजल मेघों के जलकणों के सम्पर्क से शीतल स्पर्श वाले तथा फूले हुए बन्धूक वृक्षों से हिलाए गए फूलों से निकलते गन्ध से परिपूर्ण पवन चल रहे हैं।

यहाँ पर 'ज' और 'ल' की अनेकशः आवृत्ति के कारण वर्णानुप्रास अलंकार है।

अतिशय अलंकार का लक्षण

जत्थ णिमित्ताहिन्तो लोआ-ए ह्नन्त-गोअरं वअणं ।
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसअ णामो अलंकारो ।।५४।।
यत्र निमित्तेभ्यो लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम् ।
विरच्यते स तस्य च अतिशयनामालंकारः ।।५४।।

जहाँ किन्हीं निमित्तों से लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाला कथन किया जाता है वहां अतिशय नामक अलंकार है।

अन्य आलंकारिक इसे 'अतिशयोक्ति' नाम से अभिहित करते हैं।

आचार्य दण्डी ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है -

विवक्षा या विशेषस्य लोकासीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ।। काव्यादर्श २/२१४

अलंकारदप्पण का लक्षण आचार्य भामह के लक्षण से अधिक साम्य रखता है। उन का लक्षण है -

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्त गोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ।। काव्यालंकार२/८१

अतिशयालंकार का उदाहरण देते हैं -

अइसआलंकारो जहा (अतिशयालंकारो यथा)

जइ गंध-मिलिअ-भमराण होइ अवअंस-चंपअ-पसूअं ।
ता केण विभाविज्जइ कउहल-मिलिअं पहं तिस्सा ।।५५।।
यदि गन्धमिलितं भ्रमराणां भवत्यवतंसं चम्पकप्रसूनम् ।
तत्केन विभाव्यते कुतूहलमिलितं पन्थाः तस्य ।।५५।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि गन्ध से युक्त चम्पक पुष्प भ्रमरों का अलंकार बन जाता अर्थात् भ्रमरों का प्रिय और ग्राह्य हो जाता तो कौतूहल से युक्त उसके मार्ग को कौन समझ पाता।

चम्पा के फूल के पास भ्रमर नहीं आता जैसा कि कहा गया है -

चम्पा तुझमें तीन गुन रूप रंग और बास।
ओगुन तुझमें एक है भ्रमर न आवै पास।।

पूर्वोक्त अतिशय अलंकार के उदाहरण में कवि एक असंभव वस्तु की कल्पना कर लोकसीमातिक्रान्त वचन विन्यास कर रहा है। यही असम्बन्ध में सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है। आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति के अनेक भेदों में एक भेद 'यदि' के द्वारा कहे गए असंभव अर्थ की कल्पना को भी माना है। उन्होंने अतिशयोक्ति का यह लक्षण दिया है।

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य समेन यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।। (काव्यप्रकाश, १०/१००)

विशेषालंकार का लक्षण

विगए वि एक्क देसे गुणंतरेणं तु संवु (थु) ई जत्थ।
कीरइ विसेस-पअडण-कज्जेण सो विसेसो-त्ति।।५६।।
विगतेऽपि एक देशे गुणान्तरेण तु संस्तुतिर्यत्र।
क्रियते विशेषप्रकटनं कार्येण स विशेष इति।।

जहाँ एक अंग के न रहने पर भी अन्यगुण के कारण (वस्तु की) प्रशंसा की जाती है और कार्य के द्वारा वैशिष्ट्य को प्रकट किया जाता है उसे विशेष अलंकार कहते हैं।

विसेसालंकारो जहा (विशेषालंकारो यथा)

णवि तह णिसासु सोहइ पिआण तंबोल-राक-पव्वइओ।
जह पिअअम-पीओ पंडुरो वि अहरो पहाअम्मि।।५७।।
नापि तथा निशासु शोभते प्रियाणा ताम्बूलराग प्रव्रजितः।
यथा प्रियतमपीतः पाण्डुरोऽपि अधरः प्रभाते।।५७।।

रात्रियों में प्रियाओं का ताम्बूल की रक्तिमा को प्राप्त अधर वैसा सुशोभित नहीं होता जैसा कि प्रातःकाल में (रात्रि में) प्रियतम के द्वारा पान किये जाने से पाण्डुर वर्ण वाला बनकर सुशोभित होता है।

यहाँ पर प्रियतम के अधरपान रूपी कार्य के कारण अधर की पाण्डुरतारूप वैशिष्ट्य का कथन है और यह प्रभात कालीन पाण्डुरताजन्य शोभा ताम्बूलराग के विगत होने पर भी बनी हुई है। अतः विशेषालंकार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषालंकार का यह लक्षण आचार्य मम्मट के विशेषलक्षण के तृतीय भेद से साम्य रखता है। मम्मट का लक्षण इस प्रकार है -

विना प्रसिद्धामाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद् वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ।।
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्मिविधः स्मृतः ।।काव्यप्रकाश १०/१३६।।

आक्षेप अलंकार का लक्षण

जत्थ णिसेहो व्व स (सं) सी हिअ कीरइ विसेस-तण्हाए ।
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता-एक्कन्त-भेअेण ।।५८।।
यत्र निषेध इव शंसितस्य क्रियते विशेषतृष्णया ।
स आक्षेपो द्विविधो भविष्यदेकान्त-भेदेन ।।५८।।

जहाँ विशेष (कथन करने) की लालसा से विवक्षित बात का निषेध-सा किया जाता है वहाँ आक्षेप अलंकार होता है और यह आक्षेप भविष्यमाण और एकान्त भेद से दो प्रकार का होता है । कभी वक्ष्यमाण विषय का निषेध किया जाता है और कभी उक्तविषय का। इस प्रकार दो भेद होते हैं ।

होंतक्खेओ जहा (भविष्यदाक्षेपो यथा)

जइ वच्चसि तह वच्चसु महु गरुअ दा (दी) ह-विरहग्गि-तविअ-तणुए ।
वच्चइ तइ समअं चिअ अहवा कह जंपिअं एसा ।।५९।।
यदि व्रजसि तदा व्रज मधुगुरुविरहाग्नितापित तनुक ।
व्रजति ते समय एव अथवा कथं जल्पितमेतत् ।।५९।।

प्रवस्यत्पतिका नायिका परदेश जाने को उद्यत नायक से कहती है। बसन्तऋतु में प्रचण्डदाह वाली विरहाग्नि से शरीर को तप्त करने वाले हे प्रिय ! यदि जाते हो तो जाओ। तुम्हारा (जाने का) समय ही बीता जा रहा है तो जाओ, अथवा यह बकवास क्यों की जाये।

शोभाकरमित्र के 'अलंकारत्नाकर' में प्रतिपादित विध्याभास अलंकार इससे पर्याप्त साम्य रखता है। उनके विध्याभास का यह उदाहरण है -

जइ वच्चसि वच्च तुमं को वा वारेइ तुज्झा गमणस्स ।
तुह गमणं मह मरणं लिहिअ पसत्तं कतं तेण ।।
यदि व्रजसि व्रज त्वं को वा वारयति तव गमनस्य ।
तव गमनं मम मरणं लिखितप्रसक्तं कृतान्तेन ।।

भामह का आक्षेपालंकार लक्षण भी अलंकारदप्पण के लक्षण से तुलनीय है-

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा ।।काव्यालंकार २/६८।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक्कन्तक्खेओ जहा (एकान्ताक्षेपो यथा)

खग्ग-प्पहार-दढ-दलिअ-रिउ-दलिअ-कुंभ-वीढस्स ।
तुअ णत्थि अन्तको महिहराणं संचालणो होज्ज ।।६०।।
खड्गप्रहारदृढ़दलितरिपुदलितकुम्भपीठस्य ।
तव नास्ति अन्तको महीधराणां संचालनः भवतु ।।६०।।

खड्ग के प्रहार से दृढ़ता पूर्वक दलित किये गये शत्रुओं वाले तथा हाथियों के कुम्भ स्थलों को विदीर्ण करने वाले तुम्हारा कोई भी अन्त करने वाला नहीं है। अतः तुम राजाओं के संचालक बनो अथवा तुम्हारा अन्त नहीं है क्योंकि पर्वतों को कौन हिला सकता है ।

प्रस्तुत आक्षेप अलंकार के प्रथम भेद (भविष्यदाक्षेप) में अनुमति देती हुई भी नायिका नायकगमन का निषेध-सा कर रही है । आचार्य दण्डी के अनुसार यहाँ पर अनुज्ञाक्षेप अलंकार है । द्वितीय भेद (एकान्ताक्षेप) आचार्य दण्डी के अर्थान्तराक्षेप अलंकार से साम्य रखता है ।

जाति तथा व्यतिरेक अलंकार का लक्षण

होइ सहाओ जाई वेरग्गो (वइरेओ)उण विसेस-करणेण ।
उअणेण मणोही सआ अन्नेणं बुज्झइ कईहिं ।।६१।।
भवति स्वभावो जातिः व्यतिरेकः पुनर्विशेषकरणेन ।
उपमानेन मन्यस्व सदान्येन बुध्यते कविभिः ।।६१।।

स्वस्वभाव कथन में जाति अलंकार होता है । इसी को मम्मट ने स्वभावोक्ति अलंकार नाम दिया है और उसका इस प्रकार लक्षण किया है-

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् । का. प्र.

व्यतिरेक अलंकार (उपमेय अथवा उपमान) किसी एक के वैशिष्ट्य को प्राप्त होने पर होता है। यह वैशिष्ट्य कवि द्वारा निबद्ध होता हुआ अन्य (सहृदयजनों) द्वारा समझा जाता है। व्यतिरेक का अर्थ होता है बढ़ जाना, अतिशायी हो जाना। जब उपमेय उपमानातिशायी होता है अथवा उपमान उपमेयातिशायी होता है तभी व्यतिरेक अलंकार होता है । इसका लक्षण 'कुवलयानन्द' में इसप्रकार किया गया है-

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः ।।५६।।

आचार्य भामह का व्यतिरेक लक्षण अलंकारदप्पणकार के लक्षण से तुलनीय है। भामह कहते हैं-

उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ।। काव्या. २/७५

'उनके अनुसार उपमानयुक्त (उपमेय) अर्थ का वैशिष्ट्य प्रदर्शन ही व्यतिरेक अलंकार है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाई जहा (जातिर्यथा)

सिर-धरिअ-कलस-तोलि अ-वाहा जुअलाइ गाम-तरुणीए ।
मण्णइ विलासदिट्ठो भइट्ठिअं (ओ) पामरो पुहविं ।।६२।।
शिरोधृतकलशतुलिता बाहायुगलेन ग्रामतरुण्या ।
मन्यते विलासदृष्टो भृतिस्थितां पामरः पृथ्वीम् ।।६२।।

अपनी दोनों भुजाओं से (पकड़कर) सिर पर रक्खे कलश को ऊपर उठाए हुए ग्रामतरुणी द्वारा विलासपूर्ण दृष्टि से देखा गया अज्ञानी (सम्पूर्ण) पृथ्वी को चाकरी करने में लगी हुई समझता है अर्थात् ग्रामतरुणी की चाकरी को देखकर इतना तल्लीन हो गया है कि उसके लिये मानो पूरी पृथ्वी ही वैसा कर रही हो ।

बइरागो (वइरेओ) जहा-व्यतिरेको यथा

दूसह-पआ(भा) व-पसरो सोमो स (ज) इ अखलिअ-पहो तासिं ।
तिव्व जडा उण दोण्हा वि रवि रअ (ह) रअ हअच्छाआ ।।६३।।

यहाँ पर छाया और अर्थ अस्पष्ट हैं । फिर भी अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है। आपका चातुर्य अथवा तेज असह्य है। आप सदैव भद्र रहे हैं और बिना किसी कठिनाई के मार्ग पार किया है। सूर्य तो अचेतन (?) है। फलतः उसकी किरणें आपके सामने हतप्रभ हो जाती है। ।।६३।।

'रसिक' एवं 'पर्याय' अलंकारों का लक्षण

फुड-सिंगाराइ-रसो रसिओ अह भण्णए अलंकारो ।
अण्ण-ववएस-भणिए विणिम्मिओ होइ पज्जाओ ।।६४।।
स्फुटशृङ्गारादिरसः रसिकोऽथ भण्यतेऽलंकारः ।
अन्यव्यपदेश भणिते विनिर्मितो भवति पर्यायः ।।६४।।

शृङ्गार आदि रसों की स्फुट प्रतीति होने पर 'रसिक' अलंकार होता है तथा अन्य के व्याज से कहे जाने पर निबद्ध उक्ति में 'पर्याय' अलंकार होता है।

यहाँ पर ग्रन्थकार द्वारा कथित 'रसिक' अलंकार आचार्य भामह का रसवद् अलंकार ही है ।-उन्होंने (भामह) इसका लक्षण इस प्रकार किया है -

''रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादि रसं यथा ।।काव्यालंकार ३/६।।

'पर्याय' अलंकार का लक्षण अन्य आलंकारिकों के पर्याय से नहीं अपितु 'पर्यायोक्त' अलंकार से ही साम्य रखता है। संभवतः ग्रन्थकार ने पर्यायोक्त' को ही 'पर्याय' नाम दिया है।

भामह का पर्यायोक्त का लक्षण है-

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । काव्यालंकार २/८।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रसिओ जहा (रसिको यथा)

दूई-विअड्ढ-वअणाणुवंधाइअरं विअंभिउं थद्धा ।
पडइ सउण्णस्स उअ रसंत-रसणा कुरंगच्छी ।।६५।।
दूतीविदग्धवचनानुबद्धा इतरं विजृम्भयितुं स्तब्धा ।
पतति सपुण्यस्य उरसि रसिद्रशना कुरङ्गाक्षी ।।६५।।

दूती के चतुर वचनों का अनुसरण करने वाली इतरजनों (के नेत्रों) को (आश्चर्य से) विकसित करने के लिये गर्वीली बनी हुई तथा शब्द करती हुई करधनी वाली मृगाक्षी किसी पुण्यशाली के वक्षःस्थल पर गिरती है ।

यह नायिकारब्ध शृङ्गार प्रसंग है, नायिकानिष्ठ रतिभाव की आस्वाद्यमानता के कारण शृङ्गार रस है, शृङ्गार की स्फुट प्रतीति के कारण 'रसिक' अलंकार है, यही भामह तथा दण्डी का रसवद् अलंकार है । आचार्य दण्डी ने रसपेशल कथन को ही रसवद् अलंकार माना है -

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम् ।
तेजस्वि रूढालङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ।।काव्यादर्श

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन के अनन्तर रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित-इन अलंकारों के स्वरूप के सम्बन्ध में मान्यता बदल गई थी। प्राचीन आलंकारिक रस और रसवत् में अन्तर नहीं करते थे। वे रसयुक्त कथन को ही रसवत् अलंकार मानते थे। किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन उक्त चारों अलंकारों को गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के अन्तर्गत मानते हैं। उनके अनुसार जहाँ पर रस, भाव, भावाभास, रसाभास, भावशान्ति प्रधान न होकर अङ्गरूप होते हैं वहाँ पर इन्हें क्रमशः रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार कहते हैं।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ।। ध्वन्यालोक

पज्जाओ भणइ जहा (पर्यायो भण्यते यथा)

गरुआण चोरिआए रमंति (ए)पअडे रइरसं कत्तो ।
मा कुणसु तस्स दोसं सुन्दरि ! विसमट्ठिए कज्जे ।।६६।।
गुरुकानां गौर्याः[१] रमते प्रकटे रतिरसं कर्ता ।
मा कुरु तस्य दोषं सुन्दरि विषमस्थिते कार्ये ।।६६।।

रतिक्रीडा का इच्छुक नायक नायिका को प्रकारान्तर से कह रहा है -

हे सुन्दरि (जो) रतिकर्म का कर्ता रसिक प्रकट में ही गुरुजनों की गौरी से रतिक्रीड़ा

---

१. गौरी-'गौरी तु नग्निका नागतार्तवा' इत्यमरः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है उसका विषम परिस्थिति वाले कार्य में कोई दोष नहीं है ।

उक्त 'पर्याय' नामक अलंकार अन्य आलंकारिकों के (पर्याय) से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है क्यों कि अन्य आलंकारिक आचार्य मम्मट और कुवलयानन्दकार पर्याय के ये लक्षण देते हैं -

''एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः' । एकं वस्तु क्रमेण अनेकस्मिन् भवति क्रियत वा स पर्यायः ।'' ''काव्यप्रकाश

पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः''- कुवलयानन्दः

आचार्य दण्डी के 'पर्यायोक्त' नामक अलंकार के लक्षण से उक्त 'पर्याय' का लक्षण अवश्य साम्य रखता है । दण्डी का पर्यायोक्त का लक्षण है-

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये ।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ।। काव्यादर्श २/२९५

आचार्य मम्मट का लक्षण -

'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचककत्वेन यद्वचः। का. प्र.

पर्यायोक्त में अभीष्ट अर्थ को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से कहा जाता है। अलंकारदप्पणकार के 'पर्याय' के उदाहरण को देखने से लगता है कि उन्होंने 'पर्यायोक्त' को ही पर्याय समझकर लक्षण उदाहरण दिये हैं । उनके उदाहरण में कामुक नायक अपनी इच्छा को साक्षात् न प्रकट करता हुआ अन्य के व्यवहार को बताकर प्रकारान्तर से अपनी रतिक्रीडा में अदोषता को संकेतित कर रहा है ।

'यथासंख्य' अलंकार का लक्षण तथा भेद

जह णिअ भण्णइ बहुआ परिवाडी पअडणं जहा-संखं ।
किं पुण विउणं तिगुणं चउग्गुणं होइ कव्वम्मि ।।६७।।
यथानीतं भण्यते बहुधा परिपाटी प्रकटनं यथासंख्यम् ।
किं पुनः द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणं भवति काव्ये ।।६७।।

'यथासंख्य' नामक अलंकार वहाँ होता है जहाँ अनेक रूप से पूर्व कथित का (उत्तरोत्तर) श्रेणीबद्ध रूप में प्रकटन होता है, और वह यथासंख्य द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण भेद से तीन प्रकार वाला होता है ।

यथासंख्य अलंकार में क्रमानुसार वस्तुकथन होता है । पूर्व में जिस क्रम से विविध वस्तुओं का कथन होता है बाद में भी उसी क्रम से विविध वस्तुओं में उसकी अन्विति होती है।

''यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।'' काव्यप्रकाश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विगुणो जहा (द्विगुणं यथा)

हंस-ससि-कमल-कुवलय-भसल-मुणालाण णिज्जिआ लच्छी ।
तिस्सा गइ-मुह-करअल-लोअण-धम्मेल्ल-बाहाहिं ।।६८।।
हंसशशिकमलकुवलयभ्रमरमृणालानां निर्जिता लक्ष्मीः ।
तस्या गतिमुखकरतललोचनधम्मिल्लबाहाभिः ।।६८।।

उस (नायिका) की गति, मुख, करतल, नेत्र, केशपाश और बाहुओं ने क्रमशः हंस, चन्द्र, कमल, नीलकमल, भ्रमर और कमलनाल की शोभा को जीत लिया।

यहाँ पर उत्तरार्ध में कथित गति मुख इत्यादि पदार्थों का पूर्वार्ध में कथित हंस चन्द्र आदि पदार्थों के साथ क्रमानुसार सम्बन्ध होने से यथासंख्य अलंकार है।

तउणो जहा (त्रिगुणो यथा)

जो वहइ विमल-वेल्लहल-कसण-सिअ-सरिसिआ-विसमियंको ।
मुद्धद्ध-रयणीअर-मउलिसंसिअं तं सिवं णवह ।।६९।।
यो वहति विमल विल्वफलं (सुन्दरं) कृष्णसितसरीसृपविषमृगाङ्कान् ।
मूर्धार्धरजनीकरमौलिसंश्रितं[1] तं शिवं नमत ।।६९।।

जो निर्मल विल्वफल को तथा (यथाक्रम) काले और सफेद सर्प, विष तथा चन्द्र को धारण करता है उस मूर्धास्थित अर्धचन्द्र रूपी मुकुट वाले शंकर को प्रणाम करो।

यहाँ पर 'कृष्ण' का सर्प एवं विष के साथ और 'सित' का मृगाङ्क के साथ क्रमशः अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है ।

चउग्गुणो जहा (चतुर्गुणो यथा)

तीए सममउअ-दीहेहिं णिम्मलाऽऽतंब धवल-सोहेहिं ।
डसणाहर-णयणेहिं जिआइं मणिजवय-कमलाइं ।।७०।।
तस्याः सममृदुकदीर्घे निर्मलाताम्रधवल-शोभैः ।
दशनाधरनयनैर्जितानि मणियावककमलानि ।।७०।।

उस (नायिका) के समतल कोमल और दीर्घ, निर्मल ताम्र और धवल शोभावाले दन्त, अधर और नेत्रों ने मणि, लाख (जतु) और कमलों को जीत लिया।

यहाँ पर सम, मृदुक, दीर्घ का निर्मल, ताम्र, धवल के साथ तथा दन्त, अधर, नेत्र का तथा मणि, यावक, कमल का यथाक्रम अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है । चारों चरणों में तीन तीन पदार्थों का अन्वय होने से चतुर्गुण यथासंख्य है। द्विगुण यथासंख्य में पदार्थ समूहद्वय का अन्वय है तथा त्रिगुण यथासंख्य में पदार्थत्रय का अन्वय है ।

---

१. मौलि-"मौलिः संयतकेशेषु चूडामुकुटयोस्तथा ।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाहित तथा विरोध अलंकार

अणवेक्खिअ-पत्त-सहाअ-संपआए समाहिओ होइ ।
गुण-किरिआण-विरोहेण एस भणिओ विरोहोत्ति ।।७१।।
अनपेक्षितापन्नसहायसम्पदा समाहितो भवति ।
गुणक्रियाणां विरोधेन एष भणितो विरोध इति ।।७१।।

अनपेक्षित रूप से उपस्थित सहाय सम्पत्ति से 'समाहित' अलंकार होता है तथा गुण और क्रिया के विरोध से 'विरोधालंकार' होता है ।

समाहिओ जहा (समाहितो यथा)

अच्चंन्त-कुविअ-पिअअव (म)-पसाअणत्थं पअडमाणीअे ।
उइओ चन्दो वि ततो अपसरिओ मलअ-गंधवहो ।।७२।।
अत्यन्त कुपित प्रियतम प्रसादनार्थं प्रवृत्तमानायाः ।
उदितश्चन्द्रोऽपि तत आवसरिको मलयगन्धवहः ।।७२।।

अत्यन्त कुपित प्रियतम को प्रसन्न करने के लिये प्रवृत्त नायिका के लिये (भाग्य से) चन्द्र उदित हो गया और सामयिक (अवरोचित) मलयानिल भी बहने लगा ।

ग्रन्थकार ने 'समाहित' अलंकार का लक्षण और उदाहरण आचार्य दण्डी के अनुसार ही किया है । आर्चाय दण्डी कहते हैं-

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ।।काव्यादर्श २/ २९८
मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्म नमस्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ।। / २९९

ग्रन्थकार के 'समाहित' अलंकार को आचार्य मम्मट 'समाधि' अलंकार मानते हैं और उसका लक्षण इस प्रकार करते हैं -

'समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः'' का.प्र./१२५

इस का उदाहरण भी वही देते हैं जो ऊपर दण्डी द्वारा दिया गया है । समाधि और समाहित समानार्थ ही है । किन्तु आनन्दवर्धन के अनन्तर 'समाहित' शब्द केवल रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत ही परिगणित है । रस, भाव, रसाभास भावाभास तथा भावप्रशम के गुणीभत होने पर इन्हें क्रमशः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार कहा जाता है । 'समाहित' को रसवदादि अलंकार न मानना अलंकारदप्पणकार की प्राचीनता द्योतित करता है ।

विरोहो जहा (विरोधो यथा)

तुज्झ जसो हर-ससहर-समुज्जलो सअल (य) व (य?) णिअ दिढंवि ।
मइलइ णवर वर वेरि-वीर-वहु-वअण-कमलाहं ।।७३।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तव यशो हरशशधरसमुज्ज्वलं सकलवचनीयदूढमपि ।
मलिनं न भवति वरवैरिवीरवधूवदनकमलाभम् ।।७३।।

आपकी कीर्ति सकल वचनीयता से युक्त भी (वैरियों द्वारा लगाये गए दोषों से युक्त भी) शंकर के (जटजूट में स्थित) चन्द्र के समान धवल है; तथा जैसे चन्द्रमा कलङ्कित होने पर भी धवल ही है । वैरिजनों के वधूजनों के मुखकमल की आभा के समान (यश) मलिन नहीं होता ।

यहाँ पर विरोधी गुणों के सहावस्थान के कारण विरोधालंकार है ।

सन्देह अलंकार का लक्षण

उवमाणेण सरूअं भणिऊण भस्सए जहिं भेओ ।
थुइकरणेणं संदेह-संसिओ सो हु संदेहो ।।७४।।
उपमानेन स्वरूपं भणित्वा भाष्यते यस्मिन् भेदः ।
स्तुतिकरणेन सन्देहसंश्रितः स खलु सन्देहः ।।७४।।

जहाँ पर उपमान के द्वारा स्वरूप को कहकर भेद का कथन होता है, स्तुति करने में सन्देह का आश्रय लिया जाता है वहाँ सन्देह अलंकार होता है ।

प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का संशय होना ही सन्देह अलंकार है किन्तु ऐसा संशय कविप्रतिभा से उत्थापित होना चाहिये । यह 'सन्देह' आचार्य मम्मट के अनुसार दो प्रकार का होता है -भेदोक्तिमूलक, भेदानुक्तिमूलक और यह भेदोक्तिमूलक भी निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त भेद से दो प्रकार का होता है। मम्मटने सन्देह को ससन्देह नाम दिया है। उनका लक्षण है-

ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः । का.प्र./९२

अलंकारदप्पणकार का सन्देह अलंकार आचार्य भामह के ससन्देहालंकार से तुलनीय है -

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वहतः पुनः ।
ससन्देहं वचःस्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ।। काव्यालंकार २/४३।।

सन्देहो जहा (सन्देहो यथा)

किं कमलमिणं(णो) तं स-केसरं किं ससी ण तत्थ मओ ।
दिट्ठं सहि तुज्झ मुहं ससंसअं अज्ज तरुणेहिं ।।७५।।
किं कमलमिदं तत्सकेसरं कि शशी न तत्र मृगः ।
दृष्टं सखि तव मुखं ससंशयमद्य तरुणैः ।।७५।।

नायिका मुख की प्रशंसा करती हुई सखी नायिका से कहती है - क्या यह कमल है ? (किन्तु) वह तो केसर युक्त होता है, क्या यह चन्द्रमा है पर यहाँ मृग (कलङ्क) तो है नहीं । इस प्रकार हे सखी! आज तरुणों ने तुम्हारे मुख को संशय के साथ देखा ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

यहाँ पर उपमान 'कमल' है और उपमेय 'मुख' है । उपमेय में उपमान का संशय होने से सन्देहालंकार है । ग्रन्थकार के अनुसार उपमान के द्वारा वस्तु का कथनकर उसमें भेद कथन किया जाता है । जैसे यहाँ पर 'कमलमिदम्' कहकर मुखरूप वस्तु का कथन किया गया तदनन्तर 'सकेसरम्' कह कर वैधर्म्य की उक्ति से भेदकथन किया । यह सब संशय केवल मुख की प्रशंसा करने के लिये उत्पन्न किया गया है ।

आचार्य मम्मट ने इसीप्रकार का निश्चयान्त सन्देह का यह उदाहरण है -

इन्दुः किं क्व कलङ्कः सरसिजमेतत् किमम्बु कुत्र गतम ।
ललितविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः ।।

विभावना अलंकार का लक्षण

णत्थि विहेओ किरिआ रसिअस्स विहोइ जच्च फलरिद्धी।
भण्णइ विभावणा सा कव्वालंकार इत्तेहिं ।।७६।।
नास्ति विभेदा क्रिया रसिकस्यापि भवति जात्यफलऋद्धिः ।
भण्यते विभावना सा काव्यालंकारविद्भिः ।।७६।।

जहाँ पृथक् क्रिया (कारण) का निर्देश न होने पर भी रसिकजनों को उत्तम फल (कार्य) की समृद्धि कही जाती है उसे काव्यालंकारविद् विभावना अलंकार कहते हैं।

यहाँ पर क्रिया का अर्थ हैं कारण और फल का अर्थ है कार्य । प्रसिद्ध या विशेष कारण के न रहने पर कार्य का कथन करना विभावना अलंकार होता है । आचार्य मम्मट का विभावंना लक्षण है -

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना । का. प्र.

यहाँ कारण और कार्य के लिये क्रमशः क्रिया और फल शब्दों का प्रयोग हुआ है।

विभावणाजहा - (विभावना यथा)

वड्ढइ असित्तमूलो अणुपओ होंतो वि पसरइ णहम्मि ।
सग्गं गओ (अस्स) वि अकण्हो अधो अ विमलो जसो तुज्झ ।।७७।।
वर्धतेऽसिक्तमूला अनुपदलतापि प्रसरित नभसि ।
स्वर्गं गतमप्यकृष्णमधश्च विमलं यशस्तव ।।७७।।

असिञ्चित मूल वाली भी पराश्रित रहने वाली लता (अमरवेल) आकाश में फैलती है । तुम्हारा यश स्वर्ग तक पहुँचा हुआ भी नीचे भूमण्डल में धवल और निर्मल रूप से विराजमान है ।

यहाँ सिक्तमूलत्व रूप कारण के न रहने पर भी फैलना रूप कार्य हो रहा है तथा भूमि में स्थित रूप कारण के न रहने पर भी यश के भूमिगत होना रूप कार्य का कथन होने से विभावनालंकार है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अण्णो चिअ उत्तरओ, अ जत्थ भावइ स भावओ भणिओ ।
दुविहो हु होइ जह तह, साहिज्जंतं णिसामेह ।।७८।।

जहाँ उत्तर से बिल्कुल अलग अर्थ दिखाई देता है वहाँ भावालंकार होता है। वह दो प्रकार का होता है -

भावालंकार का लक्षण

कतइ वअणाइ जहिं असुअेहिं उत्तरेहिं णज्जंति ।
सोउहिं तरम्मि उहिं अगूढ भावो सआ उत्तो ।।७९।।
कतिचिद् वचनानि यत्र अश्रुतैरुत्तरैः ज्ञायन्ते ।
श्रोतृभिः त्वरितम् ऊहैः अगूढ भावः सदा उक्तः ।।७९।।

जहाँ पर विना उत्तर सुने हुए श्रोताओं के द्वारा अनुमान या तर्क से कुछ वचन जान लिये जाते हैं वह भावालंकार है ।

ग्रन्थकार ने यह भाव अलंकार का ही लक्षण किया है क्योंकि प्रारम्भ में छठी कारिका में विभावना के बाद भाव का नाम लिया गया है । भाव अलंकार का विवेचन आचार्य रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में किया था जिसका उल्लेख अलंकार सर्वस्वकार ने अपने ग्रन्थ के आदि में किया है । आचार्य रुद्रट का भावालंकार का उदाहरण आचार्य आनन्दवर्धन के वस्तुध्वनि के उदाहरणों से मेल खाता है । अलंकारदप्पणकार ने भावालंकार का कोई उदाहरण नहीं दिया । आचार्य रुद्रट ने भावालंकार का यह लक्षण दिया है -

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ।। काव्यालंकार ७/३८

किसी के विकार द्वारा जब उसका अभिप्राय और कार्यकारण भाव बोधित होता है तब भावालंकार होता है । अर्थात् भावालंकार में कार्यकारण भाव अनियत रहता हुआ भी व्यङ्ग्य होता है । यद्यपि रुद्रट व्यञ्जनावादी नहीं हैं तथापि उनका 'गमयति पद' से यही अभिप्राय निकलता है । भावालंकार का एक अन्य लक्षण भी आचार्य रुद्रट ने इस प्रकार किया है -

अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ।।७/४०।।

इस भावालंकार का उदाहरण आनन्दवर्धन के वस्तुध्वनि के ही समान है।

अन्यापदेश अलंकार का लक्षण

जस्स भणईहिं अण्णणो णऽण्णो पअडिअ जअे जहिं अत्थो ।
अण्णावएस-णामो (सो) सिट्ठो अत्थआरेहिं ।।८०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्य भणितिभिः अन्यान्याभिः अन्यःप्रकटितः यतः यस्मिन्नर्थः ।
अन्यापदेशनामा स सिद्धोऽर्थकारैः ।।८०।।

जिन अन्यविषयक उक्तियों द्वारा अन्य ही अर्थ जहाँ पर प्रकट होता है उसे अर्थकारों ने 'अन्यापदेश' नामक अलंकार कहा है। आचार्य मम्मट के अनुसार यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का पाँचवां भेद है जहाँ पर तुल्य अप्रस्तुत के अभिधान द्वारा तुल्य प्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है। इसको आचार्य हेमचन्द्र ने अन्योक्ति अलंकार कहा है।

ग्रन्थकार ने इस अलंकार का उदाहरण ८२वीं कारिका में दिया है। इसके पूर्व ८१वीं कारिका में आतुर अलंकार का उदाहरण दिया है। इस क्रमभङ्ग का क्या कारण है कहा नहीं जा सकता।

आतुर अलंकारो जहा (आतुरालंकारो यथा)

हा हा विहूअ कर-अलाल हिअं सुअं डड्ढं ।
पडिआ गोलातुरेण सरसेण मिसेण हलिअसोण्हा ।।८१।।
हा हा विधूतकरतला लब्धं शुकं दग्धम् ।
पतिता गोलातुरेण सदृशेन मिषेण हलिकस्नुषा ।।८१।।

हा ! जब कृषक की पुत्रवधू ने तोते को जला हुआ पाया तो (व्याकुलता से) करतलों को हिलाती हुई, नदी के वेग के सदृश किसी बहाने पर (जमीन पर) गिर पड़ी।

वस्तुतः यह गाथा पूर्वोक्त भावालंकार का उदाहरण है न कि आतुरालंकार का, क्योंकि ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में अलंकारों की नामावलि में आतुर नामक कोई अलंकार नहीं बताया है। सम्भवतः इस श्लोक में आतुर शब्द के रहने से प्रतिलिपिकर्ता ने इसे आतुर अलंकार का उदाहरण जानकर इसके पूर्व 'आतुरालंकारो जहा' लिख दिया हो।

अण्णावएसो जहा (अन्यापदेशो यथा)

अण्णे सम्बन्ध भोइणि णव-वच्छ-असेण्णअं बइलस्स ।
आलोअ-वत्त (मेत्त)-सुहवो ण कज्ज-करण-क्खमो एसो ।।८२।।
अन्यस्मिन् सम्बन्धभोगिनि नववत्सोऽसेचन[1]को बलीवर्दस्य ।
आलोकमात्रसुभगो न कार्यकरणक्षम एषः ।।८२।।

हे अन्य (किशोर) के साथ सम्बन्ध का उपभोग करने वाली ! नया बछड़ा बैल की तरह मनोहर है किन्तु देखने मात्र से सुन्दर है कार्य करने में (हल चलाने में) समर्थ नहीं है।

नायिका की अल्पवयस्क सुन्दर किशोर के प्रति आसक्ति को देखकर उसकी सखी बछड़े के वृत्तान्त को बताकर उसे विमुख करना चाहती है। यहाँ पर वाच्यार्थ अप्रस्तुत है और उसके द्वारा प्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य हो रहा है। इसीको अन्योक्ति भी कहा जाता है।

---

१. 'तदसेचनकं तृप्तिर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' अमरः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिकालंकार तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार का लक्षण

पुव्व-भणिअ-सरिसम्मि वत्थुण्णि भणणं तह अण्ण परिअरो ।
ण स परिअरिओ अत्थं (त) व (र) णासो जहा ।।८३।।
पूर्वभणितसदृशे वस्तुनि भणनं तथा अन्यपरिकरः ।
न स परिकरितः अर्थान्तरन्यासो यथा ।।८३।।

पूर्व भणित सदृश वस्तु के सम्बन्ध में ही कथन करना अन्यपरिकर अलंकार है और वह अन्यपरिकर अन्य अर्थ से उस प्रकार उपस्कृत नहीं होता जिस प्रकार अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।

उक्त कारिका में ग्रन्थकार अन्यपरिकर तथा अर्थान्तरन्यास अलंकारों को परिभाषित करना चाहता है किन्तु उसका कथन स्पष्ट न होने के कारण व्याख्यागम्य है।

अन्यपरिकरालंकार में एक ही वाक्यार्थ होता है और उसमें पूर्वविदित अर्थ के ही समान कथन होता है किन्तु अर्थान्तरन्यास में दूसरे वाक्यार्थ से प्रथम वाक्यार्थ परिकरित अर्थात् उपस्कृत होता है ।

अन्य प्रसिद्ध आलंकारिकों ने 'परिकर' अलंकार वहाँ माना है जहाँ विशेषणों की साभिप्रायता रहती है ।

''अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे'' -कुवलयानन्द ।
''विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः'' -काव्यप्रकाश ॥

सुधासागरकार ने काव्यप्रकाश की टीका में परिकर का अर्थ इस प्रकार किया है- परिकरणमुपस्करणम् विशेषणव्यङ्ग्यार्थेन वाक्यार्थस्य उपस्करणात् परिकर इत्युच्यते ।

परिकरालंकार में विशेषणपद का व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होता है। इसके विपरीत अर्थान्तरन्यास में दो वाक्यार्थ होते हैं। दोनों में समर्थ्य-समर्थक भाव रहता है।

अर्थान्तरन्यास का उदाहरण

विप्फुरइ रवी उअआ अलम्मि णहु-अत्थ-महिहर-सिरत्थो ।
ते अंसिणो वि तेअं लहंति ठाणं लहेऊण ।।८४।।
विस्फुरति रविरुदयाचले न खल्वस्तमहीधरशिरःस्थः ।
तेजस्विनोऽपि तेजो लभन्ते स्थानं लब्ध्वा ।।८४।।

सूर्य उदयाचल पर ही चमकता है न कि अस्ताचल के शिखर में, तेजस्वी लोग भी समुचित स्थान पाकर ही तेज धारण करते हैं ।

यहाँ पर उत्तरवाक्यार्थ द्वारा पूर्ववाक्यार्थ का साधर्म्यमूलक समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है । यह सामान्य के द्वारा विशेष के समर्थन का स्थल है । पूर्ववाक्य विशेष है और उत्तर वाक्य सामान्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अण्णपरिअरो जहा (अन्यपरिकरो यथा)

तुरियाइ-तुरिय-गमणो णिअम्ब-भर-मंथराइ खलिअ-पओ ।
मग्गेण तीअ वच्चइ पेल्लावल्लीअ तरुणि-जणो ।।८५।।
त्वरितातित्वरितगमनः नितम्बभरमन्थरातिस्खलितपदः ।
मार्गेणातीत्य व्रजति पीड्यमानः तरुणीजनः ।।८५।।

शीघ्रातिशीघ्र चलने वाला, नितम्बभार के कारण मन्द तथा स्खलित डगों वाला धक्कामुक्की खाता हुआ तरुणीजन मार्ग से बचकर जा रहा है ।

यहाँ पर तरुणीजन की गति का पूर्वकथित (पूर्वानुभूत) वर्णन के समान ही कथन होने से अन्यपरिकर अलंकार है । यहाँ वस्तु का स्वाभाविक वर्णन होने से न कि अन्य वाक्यार्थ की तुलना होने से चमत्कार है । यहाँ पर तरुणीजन जातिवाचक शब्द है उसके तीन विशेषण हैं। अतः आचार्य रुद्रट के अनुसार परिकरालंकार के चार भेदों (द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति) में से यह जातिपरिकर का उदाहरण भी बन जाता है ।

सहोक्ति तथा ऊर्जालंकार का लक्षण

बहु वत्थुच्चिअ किरिआ समकाल-पआसणं सहोउत्ति ।
गुरु-वीर-जाइ-रइओ जाअइ उज्जा अलंकारो ।।८६।।
बहुवस्तूचितक्रिया समकालप्रकाशनं सहोक्तिः ।
गुरुवीरजातिरचितो जायते 'ऊर्जोऽलंकारः ।।८६।।

अनेक वस्तुओं के योग्य क्रिया का भी जहाँ समकाल में प्रकाशन होता है उसे सहोक्ति अलंकार कहते हैं । जहाँ श्रेष्ठ वीरों के स्वभाव का कथन होता है उसे ऊर्जा अलंकार (ऊर्जस्वि अलंकार) कहते हैं

आचार्य भामह ने ऊर्जस्वि अलंकार का लक्षण नहीं दिया । केवल अधोलिखित उदाहरण दिया है -

उर्जस्विकर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः ।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ।। काव्या ३/६।।

सहोक्ति अलंकार वस्तुतः वहाँ पर होता है जहाँ एकार्थ का अभिधायक शब्द 'सह' 'समम्' आदि सहार्थक शब्द के बल से दोनों अर्थों का अवगमन कराता है-

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् । -का. प्र.

जैसे 'सह तनुलतया दुर्बला जीविताशा' यहाँ पर सह के प्रयोग के कारण 'दुर्बला' शब्द तनुलता और जीविताशा इन दोनों पदों के साथ समकाल में अन्वित होता है। अर्थात् उस विरहिणी की गात्रयष्टि तथा जीवन की आशा दोनों दुर्बल हो गई हैं।

---

१. बल अर्थ में ऊर्ज शब्द अकारान्त पुलिंग है - "ऊर्जः कार्तिके बले" हेमेः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्जस्वि अलंकार वहाँ होता है जहाँ तेजस्विता तथा अहंकार का उत्कर्ष दिखाया जाय। आचार्य दण्डी ने ऊर्जस्वी का उदाहरण इस प्रकार दिया है-

अपकर्ताहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ।।
इति मुक्तः परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना ।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ।। काव्यादर्श २/२९३-९४

रसवत्, प्रेयस् ऊर्जस्वी, समाहित-ये चार अलंकार प्राचीन दण्डी आदि आलंकारिकों की दृष्टि में अर्थालंकार ही थे । किन्तु ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने इनके विषय में एक समुचित व्यवस्था दी है । उन्होंने इन्हें रसवदादि अलंकार कहकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्यकोटि में अन्तर्भूत किया है । रस, भाव, रसाभास, भावाभास, और भावशान्ति किसी अन्य रस के अंग होने पर क्रमशः रसवद्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकार कहलाते हैं -

उज्जा (?द्धा) लंकारो जहा (उर्जालंकारो यथा)

वीसत्थ च्चिअ गेण्हसु वइ वि (रि)अणा वेग्ग णिविडिअं खग्गं ।
पहरन्तं पडिअ पहरणं मुणइ करेसु णास-समत्थं ।।८७।।
विश्वस्तं चैव गृहाण वैरिजनावेगनिपीडितं खड्गम् ।
प्रहरन्तं पतित प्रहरणं मत्वा कुर्याः नाशसमर्थम् ।।८७।।

शत्रुजनों के (दर्शनजन्य) उत्तेजना से कसकर पकड़े गए खड्ग को विश्वास के साथ पकड़ो। (अपने खड्ग को) प्रहार करते हुए (शत्रु के) शस्त्र को (हाथ से) गिरा देने वाला समझ कर शत्रु को नष्ट करने के योग्य बनाओ।

यहाँ पर योद्धा की ऊर्जस्विता का वर्णन होने से ऊर्जा अलंकार है । सहोक्ति अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

सहोत्ती जहा (सहोक्ति यथा)

णिद्दाइ समं लज्जा सरीर-सीर सोहाए सह गआ कित्ती ।
समअे तुहं अणुरअणी तीअे बड्ढंति णीसासा ।।८८।।
निद्रया समं लज्जा शरीर सुषमया सह गता कीर्तिः ।
समये तव अनुरजनि अतीते वर्द्धन्ते निश्वासाः ।।८८।।

नींद के साथ लज्जा चली गई और शरीर की शोभा के साथ कीर्ति भी चली गई। समय के बीतने पर प्रत्येक रात के अनुसार तुम्हारी सांसें लम्बी होती जाती हैं।

यहाँ विरहिणी नायिका का वर्णन है । 'समम्' शब्द के प्रयोग से 'निद्रया' और 'लज्जा' दोनों का 'गता' के साथ अन्वय हो जाता है उसी प्रकार शरीरसुषमा तथा कीर्ति दोनों का 'गता' से साथ सम्बन्ध होने से 'गता' यह एक शब्द दो का वाचक बन रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'रजनी' और निश्वास का भी 'वर्द्धन्ते' के साथ सम्बन्ध है ।

अपह्नुति और प्रेमातिशय अलंकार का लक्षण

उअमा जत्थ णिण्हविअ णिअडा सा अवण्हुई होइ ।
पीई अईसएणं पेमाइसओ भणेअव्वो ।।८९।।
उपमा यत्र निह्नुत्य निकटा सा अपह्नुतिर्भवति ।
प्रीत्यतिशयेन प्रेमातिशयो भणितव्यः ।।८९।।

जहाँ पर किसी (उपमेय) को छिपाकर (निषेध करके) साम्य अतिशय निकट हो जाता है उसे अपह्नुति अलंकार कहते हैं । प्रेम के अतिशय के कारण प्रेमातिशय अलंकार होता है ।

अपह्नुति अलंकार में उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाती है । इससे उपमान उपमेय में अतिसाम्य सूचित होता है । इसका लक्षण अन्य आलंकारिकों ने इस प्रकार किया है -

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्-दण्डी

अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि ।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम् ।। रुद्रट
प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः । -मम्मट

अपह्नुति अलंकार का उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार कहता है -

अपण्हुई जहा (अपह्नुतिर्यथा)

णहु उच्च-विडअ-संठिअ-पहिट्ठ-कलअंठि-कलरव-प्पसरो ।
सुव्वइ वण-विलसिअ-पुप्फ-चाव-महुरो रवो एसो ।।९०।।
न खलु-उच्च विटपसंस्थितप्रहृष्टकलकण्ठीकलरवप्रसरः ।
श्रूयते वनविलसितपुष्पचापमधुरो रव एषः ।।९०।।

यह ऊँची शाखा पर बैठे हुए हर्षित कोकिल के अव्यक्त-मधुर ध्वनि का प्रसार नहीं सुनाई देता है अपितु यह (कोकिलध्वनि) वन में विलास करने वाले कामदेव का मधुर शब्द है ।

यहाँ पर 'कोकिलरव' उपमेय है उसका निषेध करके उसमें कामदेव के शब्द का स्थापन किया गया है । इससे कोकिलरव और 'कामदेव' में अतिसाम्य व्यङ्ग्य हो रहा है।

यह अपह्नुति का उदाहरण आचार्य भामह के उदाहरण से पर्याप्त साम्य रखता है उनका उदाहरण है-

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः ।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः । काव्या. ३/२२।।

अगली कारिका में 'प्रेमातिशय' अलंकार का उदाहरण है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेमाइसओ जहा- (प्रेमातिशयो यथा)

सहसा तुअम्मि दिट्ठे जो जाओ तीअ पहरिसाइसओ ।
सो जइ पुणो-वि होसइ सुन्दर तुअ दंसणु च्चेअ ।।९१।।
सहसा त्वयि दृष्टे यो जातस्तस्याः प्रहर्षातिशयः ।
स यदि पुनरपि भविष्यति सुन्दर तव दर्शनेनैव ।।९१।।

सहसा तुम्हारे दिखाई पड़ने पर जो उसे (नायिका को) प्रहर्षातिशय हो जाता है वह प्रहर्ष पुनः तुम्हारे दिखने पर ही हो सकता है ।

यहाँ पर प्रीति (नायिकानिष्ठा नायकविषयिणी) के अतिशय का वर्णन होने के कारण प्रेमातिशय अलंकार है ।

ग्रन्थकार यहाँ पर आचार्य दण्डी के 'प्रेयोऽलंकार' से स्पष्ट रूप से प्रभावित जान पड़ता है । दण्डी ने प्रियतर आख्यान को प्रेयोऽलंकार माना है। उन्होंने प्रेयोऽलंकार का यह उदाहरण दिया है -

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ।। काव्यादर्श२/२७६

'उदात्त' और परिवृत्त' अलंकारों का लक्षण

रिद्धि-महाणुभावत्तणेहिं दुविहो वि जाअइ उदत्तो ।
सो परिअत्तो घेप्पइ जत्थ विसिट्ठं णिअं दाउं ।।९२।।
ऋद्धिमहानुभावत्वाभ्यां द्विविधोऽपि जायते उदात्तः ।
स परिवृत्तः गृह्यते यत्र विशिष्टं निजं दातुम् ।।९२।।

समृद्धि और महानुभावता के (वर्णन) कारण 'उदात्त' अलंकार दो प्रकार का होता है । जब निज वस्तु को देकर (अन्य की) विशिष्ट (वस्तु) का ग्रहण किया जाता है तब 'परिवृत्त' अलंकार होता है । ग्रन्थकार का परिवृत्त अलंकार का लक्षण भामह के परिवृत्ति अलंकार के अधोलिखित लक्षण से तुलनीय है:-

विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ।। काव्यालंकार३/४१।।

(अलौकिक) समृद्धि अथवा किसी प्रभावशाली व्यक्ति के वर्णन में उदात्त अलंकार होता है । इस अलंकार का अन्य प्रसिद्ध आलंकारिकों ने इसी से मिलता-जुलता लक्षण किया है -

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् - काव्यादर्श २/३००
उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लघ्यं चान्योपलक्षणम् - कुवलयानन्द १६२
उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम् - काव्यप्रकाश १०/११५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलंकारदप्पणकार ने जिसे परिवृत्त नाम दिया है उसी को अन्य आलंकारिक 'परिवृत्ति' कहते हैं । परिवृत्ति अलंकार में दान और ग्रहण का विनिमय होता है-

आर्थानां यो विनिमय: परिवृत्तिस्तु सा यथा । काव्यादर्श २/३५१

अब समृद्धिमूलक उदात्त अलंकार का उदाहरण देते हैं -

रिद्धी उदत्तो जहा (ऋद्धिउदात्तो यथा)

तुह णर-सेहर! विप्फुरिअ-रअण-करिण(किरण) णिअर-णासिअ-तमाइं ।
भिच्चाण-वि दीव-सिहा-मइलाइं ण होन्ति भवणाइं ।।९३।।
तव नरशेखर ! विस्फुरितरत्नकिरणनिकरनाशिततमांसि ।
भृत्यानामपि दीपशिखामलिनानि न भवन्ति भवनानि ।।९३।।

हे राजन् ! फैली हुई रत्न किरण राशि से नष्ट अन्धकार वाले तुम्हारे भवन भृत्यों के (द्वारा प्रकाशार्थ जलाए गए) दीपकों की लौ से निकलने वाले कज्जल से भी मलिन नहीं होते हैं।'

यहाँ पर प्रभूत रत्नराशिके कारण तमोविनाश का वर्णन एक असाधारण समृद्धि का प्रकाशन होने से ऋद्धि-उदात्त अलंकार है ।

महाणुभाव जाइ उदत्तो जहा (महानुभावजाति-उदात्तो यथा)

वेल्लहल-रमण(णि)-थणहर-पडिपेल्लिअ-विअड-वच्छ-पीढा-वि।
ण चलंति महासत्ता मअणस्स सिरे पअं काउं ।।९४।।
कोमलरमणीस्तनधरपरिपीडितविकटवक्ष:पीठाअपि ।
न चलन्ति महासत्त्वा मदनस्य शिरसि पदं कर्तुम् ।।९४।।

कोमल रमणियों के उर: स्थलों से परिपीडित विशाल वक्ष:स्थल वाले भी महासत्त्वशाली लोग कामदेव के सिर पर पैर रखने से विचलित नहीं होते । अर्थात् विलास की सामग्री होने पर भी कामजयी होते हैं ।

'वेल्लहल' शब्द 'पाइअसद्दमहण्णवो' के अनुसार देशी शब्द है इसका अर्थ है - कोमल, विलासी । ''वेल्लहलो मउअविलासीसुं'' देशीनाममाला VII/96

यहाँ महासत्त्वशाली लोगों की स्वाभाविक उदात्तता का वर्णन होने से उदात्तालंकार है।

अब परिवृत्त (परिवृत्ति) अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत है -

परिअत्तो जहा (परिवृत्तो यथा)

ससिमुहि!मुह-पंकअ-कन्ति-पसर-करणक्कम-विलासेण ।
दिट्ठिं दाऊण तओ गहिआइं जुआण हिअआइं ।।९५।।
शशिमुखि ! मुखपङ्कजकान्तिप्रसरकरणक्रमविलासेन ।
दृष्टिं दत्त्वा ततो गृहीतानि यूनां हृदयानि ।।९५।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे चन्द्रमुखी ! तुमने मुखकमल की कान्ति के प्रसार तथा इन्द्रियों के क्रमानुसार विलास से (युवकों को) दृष्टि दान कर युवकों के हृदयों को ग्रहण कर लिया है। अर्थात् नायिका की सविलास दृष्टि से युवकजनों के चित्त उसकी तरफ आकृष्ट हो गए हैं। यहाँ पर नायिका ने दृष्टि देकर युवकों के हृदय को लिया है। इस प्रकार परस्पर विनिमय (आदान-प्रदान) के कारण परिवृत्त (परिवृत्ति) अलंकार है। 'विलास' शब्द इस श्लोक में परिभाषित किया गया है-

प्रियदर्शनकाले तु नेत्रभ्रूवक्त्रकर्मणाम् ।
विकारो य स धीमद्भिर्विलास इति कथ्यते ।।

ग्रन्थकार ने जिसे 'परिवर्त' अलंकार कहा है उसे ही दण्डी आदि आचार्य 'परिवृत्ति' अलंकार कहते हैं -

अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा यथा । काव्यादर्श।
परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ।। काव्यप्रकाश।

द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर तथा गुणोत्तर अलंकार का लक्षण

दव्व-किरिआ-गुणाणं पहाणआ जेसु कीरइ कईहिं ।
दव्वुत्तर-किरिउत्तर-गुणुत्तरा ते अलंकारा ।।९६।।
द्रव्यक्रियागुणानां प्रधानता येषु क्रियते कविभिः ।
द्रव्योत्तर क्रियोत्तर गुणोत्तरास्ते अलंकाराः ।।९६।।

जहाँ कवियों द्वारा द्रव्य, क्रिया या गुणों की प्रधानता वर्णित की जाती है वहाँ क्रमशः द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर तथा गुणोत्तर अलंकार होते हैं।

ये तीनों अलंकार संस्कृत के किसी भी अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हैं। अब क्रमशः उक्त अलंकारों का उदाहरण देते हुए कहते हैं -

दव्वुत्तरो जहा (द्रव्योत्तरो यथा)

वर-करि-तुरंग-मंदिर-आणाअर-सेवअ-कणअ-रअणाइं।
चिंतिअ-मेत्ताइं चिअ हवंति देवे पसण्णम्मि ।।९७।।
वरकरितुरङ्गमन्दिराज्ञाकरसेवककनकरत्नानि ।
चिन्तितमात्राणि चैव भवन्ति देवे[१] प्रसन्ने ।।९७।।

राजा के प्रसन्न होने पर अथवा देवता के प्रसन्न होने पर श्रेष्ठ हाथी, घोड़े, महल, आज्ञाकारी सेवक, सुवर्ण और रत्न चिन्तनमात्र से मिल जाते हैं।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में सभी द्रव्यवाचक शब्द हैं। इन्हीं की प्रधानता के कारण द्रव्योत्तर अलंकार है। वस्तुतः इस अलंकार का अन्तर्भाव आचार्य मम्मट के क्रियादीपक अलंकार

---

१. "देव हृषीके के देवस्तु नृपतौ तोयदे सुरे" इति हैमः ।२/५/३८।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

में ही हो जाता है क्योंकि पूर्वार्द्ध के सभी कारक पदों का 'भवन्ति' इस एक क्रिया से अन्वय होता है । इसी प्रकार क्रियोत्तर अलंकार का कारकदीपक में तथा गुणोत्तर अलंकार का क्रियादीपक में अन्तर्भाव हो जाता है।

किरिउत्तरो जहा (क्रियोत्तरो यथा)

मा रुअउ मा किसाअउ मा खिज्जउ मा विहिं उआलहउ ।
जा णिक्किवा तुह बहु-वल्लहस्स वरई पडे पडिआ ।।९८।।
मा रोदीः मा क्लिश्नातु मा खिद्यतां मा विधिमुपालभताम् ।
या निष्कृपा तव बहुवल्लभस्य वराकी पदे पतिता ।।९८।।

ईर्ष्याकषायिता नायिका द्वारा प्रताडित खिन्न नायक से कहा जा रहा है-

मत रोओ, क्लेश मत करो, खिन्न मत होओ भाग्य को मत कोसो क्योंकि अनेक वल्लभाओं वाले तुम्हारे प्रति निर्दय बनी नायिका अब तुम्हारे चरणों पर पड़ी हुई है ।

यहाँ पर पूर्वार्ध में निर्दिष्ट अनेक क्रियाओं की प्रधानता के कारण क्रियोत्तर अलंकार है।

गुणुत्तरो जहा (गुणोत्तरो यथा)

ससिसोम्म! सरल! सज्जण! सच्च-वअ सुहअ! सुवरिअ! सलज्ज ।
दिट्ठो सि जहिं रूअं ते ताइ (तुह)कहं णु ण णरिंद? ।।९९।।
शशिसोम्य ! सरल ! सज्जन ! सत्यवचः ! सुभग! सुवर्य ! सलज्ज! ।
दृष्टोऽसि यस्मिन् रूपं ते तस्मिन् कथं नु न नरेन्द्र!।।९९।।

हे चन्द्रमा के समान सौम्य, सरल, सज्जन, सत्यवचन, सुन्दर, सुवरेण्य, सलज्ज राजन् तुम पहचान लिये गए हो क्योंकि जहाँ रूप (सुरूप) होता है वहाँ ये (सौम्यता, सारल्यादि) गुण कैसे नहीं होगें ।

ऐसी मान्यता रही है कि जहाँ सुन्दर आकृति होती है वहाँ गुण भी अवश्य रहते हैं - ''यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति''। कालिदास भी कहते हैं -

'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः'
'सत्यं तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो न भवन्ति ।'

गुणोत्तर अलंकार के उदहारण में पद्य के पूर्वार्ध में गुणों की प्रधानता सुस्पष्ट है।

श्लेषालंकार का स्वरूप

उवमाए उवमेएं रूइज्जइ जेण सो सिलेसत्ति ।
सो उण सहोत्ति उअमा हेऊहिंतो मुणेअव्वो ।।१००।।
उपमया उपमेयं रूप्यते येन स श्लेष इति ।
स पुनः सहोक्त्युपमाहेतुभ्यो मन्तव्यः ।।१००।।

जहाँ उपमान और उपमेय एक ही शब्द से निरूपित हो वह श्लेष है । और वह श्लेष सहोक्ति, उपमा तथा हेतु को लेकर तीन प्रकार का समझना चाहिये अर्थात् वह श्लेष अलंकार सहोक्ति श्लेष, उपमाश्लेष और हेतुश्लेष से तीन प्रकार का होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह श्लेष लक्षण आचार्य भामह के श्लिष्ट लक्षण से तुलनीय है। भामह का लक्षण है-

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्ट तदभिधीयते ।। काव्या. ३/१४॥

सहोक्ति सिलेसो जहा (सहोक्तिश्लेषो यथा)

पीणा घणा अ दूरं समुण्णआ णह-विअत्तिअ च्छाआ ।
मेहा घणआइं तुह णिट्ठुवत्ति तण्हाउरो लोओ ।।१०१।।
पीना घनाश्च दूरं समुन्नता नभोविवर्तितच्छायाः (नखविवर्तिच्छायाः) ।
मेघा घनतया तव निर्ध्यायति तृष्णातुरो लोकः ।।१०१।।

हे परिपुष्ट, सघन, दूर तक उन्नत, आकाश में फैली छाया वाले, नखक्षत से बदली कान्ति वाले ! पयोधरो! सघनता के कारण तृष्णातुर लोक (प्यासे लोग, कामतृष्णा से व्याकुल) तुम्हारा ध्यान करता है ।

यहाँ पर उपमेय 'मेहा' शब्द है । उपमान पक्ष (अप्रस्तुत पक्ष) में स्तनों का निरूपण भी इसी शब्द से होता है । अतः श्लेष के बल से उपमान उपमेय दोनों का कथन होने के कारण सहोक्तिश्लेष अलंकार है ।

उवमासिलेसो जहा (उपमाश्लेषो यथा)

दूराहिं चिअ णज्जइ रक्खा सद्दस्स (सं)सूइअं गमणं ।
लहुइअ-महिहर-सत्ताणु मत्त-हत्थीण व पहूणं ।।१०२।।
दूरादेव ज्ञायते रक्षाशब्दस्य संसूचितं गमनम् ।
लघुकृतमहीधरसत्तानां मत्तहस्तीनां इव प्रभूणाम् ।।१०२।।

पर्वतों की सत्ता को छोटा बनाने वाले मत्त हाथियों के समान राजाओं का रक्षा-शब्द के द्वारा सूचित गमन दूर से ही ज्ञात हो जाता है । हाथियों की तुङ्गता और राजाओं की महत्ता के कारण पर्वतों की ऊँचाई छोटी लगने लगती है । हाथी का चलना उसके दोनों तरफ लटकने वाले घण्टों से शब्द से दूर से ही पता चल जाता है तथा राजाओं का चलना भी उनकी रक्षा के निमित्त उत्सारणा करने वाले लोगों के शब्द से दूर से ही ज्ञात हो जाता है। जब राजा चलते हैं तो उनकी रक्षा के निमित्त उनके आगे-आगे 'उत्सरत आर्याः उत्सरत' कहते हुए उत्सारणा करने वाले लोगों को हटाते हुए चलते हैं ।

यहाँ पर 'हस्ती' उपमान है तथा प्रभु उपमेय । पद्य के पूर्वार्द्ध तथा तृतीय चरण में साधारण धर्म हैं जो दोनों पक्षों में अन्वित होते हैं । अतः यहाँ उपमा श्लेषा है ।

हेतुसिलेसो जहा (हेतुश्लेषो यथा)

हेला-विसविअ-मअण-ग्गणेण समपेच्छआइ अ जणस्स ।
अलिअ-परम्मुह-आए भद्द! णअणप्पहो तं सि ।।१०३॥

इस कारिका का अर्थ रूप अलंकार प्रसंग में अधिक स्पष्ट नहीं है। इसका अर्थ यह हो सकता है - हे भद्र ! तुम उस कामिनी के दृष्टि-पथ में हो जो झूठ-मूठ रूप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना चेहरा घुमाकर तुम्हारी ओर उसी तरह झाँक रही है जिस तरह वह अन्य लोगों की ओर उन्हें विश्वस्त करने के लिए झाँकती है ।।१०३।। **(सम्पादक)**

यहाँ पर सहोक्ति उपमा और हेतु मूलक त्रिविध श्लेष, भामह के त्रिविध श्लेष से सर्वथा साम्य रखते हैं । भामह की कारिका है -

श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा ।
तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं यथा ।। काव्या. ३/१७।।

व्यपदेशस्तुति नामक अलंकार का लक्षण

(अच्चुब्भड)-गुण-संथुइ-वच्चसे (बबए) स-वसेण सविसआ जत्थ ।
कीरइ णिद्दा (णिंदा) इत्थिआ सा ववअेस-थुई त्तणामं ।।१०४।।
अत्युद्भटगुणसंस्तुतिव्यपदेशवशेन सविषया यत्र ।
क्रियते निन्दा स्थिता सा व्यपदेशस्तुतिर्नाम ।।१०४।।

अत्युद्भट गुणों की संस्तुति के व्याज से जहाँ प्रतिपाद्य विषय की निन्दा विद्यमान रहती है उसे व्यपदेश स्तुति नामक अलंकार कहते हैं ।

ववएसत्थुई जहा (व्यपदेशस्तुतिर्यथा)

अकुलीणे पअत (इ)-जडे अकज्जवंके जीए ससंकम्मि ।
तुज्झ जसो णर-सेहर किज्ज सुअणा-विअ-णामाइ ।।१०५।।
अकुलीने प्रकृतिजडे अकार्यवक्रे जीवे सशङ्के ।
तव यशो नरशेखर कुर्यात् श्रवणवेदना मायि ।।१०५।।

हे राजन ! तुम्हारा मायावी यश अकुलीन, प्रकृत्या-जड, अकारण-वक्र तथा शङ्कालु प्राणी में श्रवणवेदना करे ।

यहाँ पर यश को मायावी और श्रवणवेदना कारक बताकर आपाततः निन्दा की जा रही है किन्तु इससे राजा के यश की स्तुति ही व्यङ्ग्य हैं ।

समयोगिता (तुल्ययोगिता) अलंकार का लक्षण

गुण-सरिसत्तण-तण्हाइ जत्थ हीणस्स गुरुअएण समं ।
होइ समकाल-किरिआ जा सा समजोइआ साहु ।।१०६।।
गुणसदृशत्वतृष्णया यत्र हीनस्य गुरुकेण समम् ।
भवति समकाल क्रिया या सा समयोगिता साधु ।।१०६।।

जहाँ पर समान गुण का वर्णन करने की इच्छा से हीन की महान के साथ समकाल में क्रिया दिखाई जाती है उसे समयोगिता अलंकार कहते हैं ।

अलंकारदप्पणकार का समयोगिता अलंकार अन्य मम्मटादि आलंकारिकों का तुल्ययोगिता अलंकार है । सभी प्रस्तुतों का या सभी अप्रस्तुतों का एक ही क्रिया या गुण के साथ अन्वय होना ही तुल्ययोगितालंकार कहा गया है । आचार्य दण्डी ने तुल्ययोगिता के लक्षण में प्रस्तुत या अप्रस्तुत की चर्चा नहीं की है । उनका लक्षण है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षित गुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ।।काव्या. २/३३०।।

चन्द्रालोक में तुल्ययोगिता का यह लक्षण है -

वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता ।
संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च ।।

अलंकारदप्पणकार का समयोगितालंकार आचार्य भामह के तुल्ययोगितालंकार से तुलनीय है -

न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविविक्षया ।
तुल्यकार्यक्रिया योगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ।। काव्या. ३/२७।

समजोइअं जहा (समयोजितं यथा)

सअणस्स परं रज्जं कीरइ रइ-तरल-तरुणि-णिवहस्स ।
समआल-चलिअ-मणि-वलय-मेहला-णेउर-रवेण ।।१०७।।
स्वजनस्य (शयनस्य) परं राज्यं क्रियते रतितरलतरुणिनिवहस्य ।
समकाल चलित मणिवलय मेखलानूपुररवेण।।१०७।।

रतिचञ्चल तरुणी समूह के समकाल में चलित मणिखचित कङ्कण तथा करधनी और नूपुर के शब्द द्वारा स्वजनों में परम राज्य किया जाता है, अथवा शयन अर्थात् शय्या में वलय मेखला और नूपुर के शब्द राज कर रहे हैं अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान हैं ।

यहाँ पर महान् तरुणी समूह तथा हीनगुण वाले वलय, मेखला और करधनी का रव के साथ सम्बन्ध होने के कारण समयोगितालंकार है ।

अप्रस्तुतप्रसंग तथा अनुमानालंकारों का लक्षण

अप्पत्थुअ-प्पसंगो अहिआर-विमुक्क-वत्थुणो भणणं ।
अणुमाणं लिंगेणं लिंगी साहिज्जए जत्थ ।।१०८।।
अप्रस्तुत प्रसंगोऽधिकारविमुक्तवस्तुनो भणनम् ।
अनुमानं लिङ्गेन लिङ्गी साध्यते यत्र ।।१०८।।

प्रस्तुत प्रसंग से रहित वस्त्वन्तर का कथन अप्रस्तुतप्रसंग अलंकार है और जहाँ लिङ्ग के द्वारा लिङ्गी को सिद्ध किया जाता है उसे अनुमान अलंकार कहते हैं।

यहाँ पर कारिका के पूर्वार्ध में अप्रस्तुतप्रसंगालंकार का तथा उत्तरार्ध में अनुमानालंकार का लक्षण दिया गया है । ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अलंकारों की गणना के क्रम में समयोगितालंकार के बाद अप्रस्तुतप्रशंसालंकार को रक्खा है किन्तु यहाँ पर 'अप्रस्तुत प्रसंग' नाम दिया है । इसके अतिरिक्त उपमा के भेदों के प्रसंग में अप्रस्तुत प्रशंसा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमा का एक भेद मात्र बताकर १५वीं कारिका में उसका उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस विसंगति का कारण समझ में नहीं आता। अप्रस्तुतप्रसंगालंकार के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यह अप्रस्तुतप्रशंसा न होकर 'विशेषालंकार' का ही एक भेद है।

अप्पत्थुअप्पसंगो जहा (अप्रस्तुतप्रसंगो यथा)

साऽऽसुक्कोअेण गआ उअहं बहुआइ सुण्ण-देवउलं।
पत्तो दुल्लहलंभो वि अण्ण-कज्जागओ जारो ।।१०९।।
साऽऽशु कोपेन गता पश्यत बहुकादिशून्यदेवकुलम्।
प्राप्तो दुर्लभलाभोऽप्यन्य कार्यागतो जारः ।।१०९।।

देखो, वह क्रोध के कारण शीघ्र बहुजनशून्य देवालय में पहुँची।(वहाँ) अन्यकार्य से आए हुए जार का दुष्प्राप्य लाभ हुआ।

प्रस्तुत उदाहरण आचार्य मम्मट के विशेषालंकार के तृतीय भेद का भी उदाहरण बन सकता है। उनके विशेषालंकार के तृतीय भेद का लक्षण इस प्रकार है-

अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणञ्चेति विशेषस्त्रिविधः मतः ।। का.प्र. १३६

ऊपर के अप्रस्तुतप्रसंग अलंकार के उदाहरण में क्रोध के कारण सूने देवालय में पहुँची नायिका को जार का अप्रत्याशित लाभ हो गया अतः मम्मट के अनुसार विशेषालंकार ही होगा।

यद्यपि अलंकारदप्पण का अप्रस्तुतप्रसंगालंकार भामह के अप्रस्तुत प्रशंसा से पूर्ण साम्य रखता है तथापि उसे उदाहरण में संगत करना संभव नहीं है। भामह का लक्षण इस प्रकार है -

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ।। काव्या. २/२९।

आगे अनुमान का उदाहरण देते हैं -

अणुमाणं जहा (अनुमानं यथा)

णूणं तीअ वि सूअन्ति तेण सह विलसिअं वआसे (अस्से) ण।
णह-वअ-पल्लव-लग्गा (इं) सअणिज्ज-दलाइं अंगाइं ।।११०।।
नूनं तस्या अपि सूचयन्ति तेन सह विलसितं प्रयासेन।
नखपदपल्लवलग्न शयनीयदलानि अङ्गनि ।।११०।।

(नायिका के) अङ्ग सूचित करते हैं कि उसने प्रयत्नपूर्वक उस (नायक) साथ विलास किया है। उसके अङ्गों में नखक्षत के चिह्न तथा पदपल्लवों में शयनीयदल (पत्तों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की शय्या) लगे हुए हैं ।

यहाँ पर नखक्षत एवं लगे हुए शयनीय दलों वाले अङ्ग लिङ्ग हैं और इनसे उसके विलास का अनुमान हो रहा है। अत: यह अनुमानालंकार है ।

आदर्शालंकार का लक्षण

आअरिसम्मि व जासिं वित्थर-रोयणाणं तु अफुड-च्छाआ ।
दीसंति पअव्वाहिअअ-हारिणो सो हु आअरिसो ।।१११।।
आदर्श इव यस्मिन् विस्तरलोचनानां तु अस्फुटच्छाया: ।
दृश्यन्ते पदव्यां हृदयहारिण: स खलु आदर्श: ।।१११।।

मार्ग में हृदयहारक (नायकादि) के विस्तृत नेत्रों की अस्फुटच्छाया दर्पण में पड़े हुए की तरह जहाँ दिखाई दे वह आदर्श नामक अलंकार है ।

आआरेसो जहा (आदर्शो यथा)

केलि-परा मोसरमाण तुअ फंसूसवं अपाअन्ता।
हत्था से (ते) णह-किरण-च्छलेण धराहि व तुवन्ति ।।११२।।
केलि-परा मोष्यमाणं तव स्पर्शोत्सवमप्राप्नुवन्त: ।
हस्तास्तस्य नहकिरणच्छलेन धाराभिरिव तुदन्ति ।।११२।।

चुराए जाते हुए तुम्हारे स्पर्शसुख को न प्राप्त करते हुए क्रीडारत उसके (नायक के) हाथ नाखूनों से निकलने वाली किरणों के व्याज से मानों धाराओं द्वारा (स्पर्श-योग्य अंगों को) पीड़ित कर रहे हैं ।

यहाँ पर नायक के नखकिरणों की छाया नायिका के अंगों में प्रतिम्बित हो रही है जैसे आदर्श (दर्पण) में प्रतिबिम्बित होती है । वह किरणच्छाया जलधरा के समान नायिका के अंगों में पहुँच कर मानों उन्हें पीड़ित-सी कर रही है । इस आदर्श नामक अलंकार को अन्य किसी आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया ।

उत्प्रेक्षा अलंकार का लक्षण

थोवोवमाइ सहिआ संतकिरणा-गुणाणुजोएण ।
अवि(व)वक्खिअ सामस्से (सामण्णे)उप्पेक्खा होइ साइसआ ।।११३।।
स्तोकोपमया सहिता शान्तकिरणा गुणानुयोगेन ।
अविवक्षितसामान्ये उत्प्रेक्षा भवति सातिशया ।।११३।।

किञ्चिद् उपमा से युक्त क्रिया गुणानुयोग (साधारणधर्म के सम्बन्ध से) के कारण उपमान उपमेय की विकीर्णता (भेद) से रहित तथा सामान्य धर्म की विवक्षा होने से अतिशया उत्प्रेक्षा अलंकार होता है ।

ग्रन्थकार द्वारा दिया गया उत्प्रेक्षा का उक्त लक्षण कुछ अस्पष्ट प्रतीत होता है । वस्तुत: इसे सम्यग् रूप से समझने के लिए आचार्य रुद्रट के रूपाकालंकार का लक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा उस पर नमिसाधु की टीका को समझना भी आवश्यक है । रुद्रट का रूपक का लक्षण है-

यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ।
अविवक्षितसामान्या कल्पते इतिरूपकं प्रथमम् ।। काव्यालंकार

अर्थात् जहाँ पर गुणों की तुल्यता होने पर साधारण धर्म के कथन के विना उपमान और उपमेय में अभेद कल्पित होता है। उसे रूपक कहते हैं । रूपक में तथा उत्प्रेक्षा में उपमान-उपमेय का अभेद होने पर भी भेद होता है। इसे नमिसाधु इन शब्दों में समझते हैं-

'उत्प्रेक्षायामप्यभेदो विद्यते ततस्तन्निरासार्थमाह - अविवक्षितसामान्येति । सदप्यत्र सामान्यं न विवक्षते । सिंहो देवदत्त इति । उत्प्रेक्षायां तु छद्मलक्ष्म व्याज व्यपदेशादिभि: शब्दै रुपमानोपमेययोरभेदो भेदश्च विवक्षित: इति । परमर्थतस्तूभयत्राभेद एवेति ।'

वस्तुत: रूपकालंकार में उपमान और उपमेय का अभेद विवक्षित होता है किन्तु उत्प्रेक्षा में उपमेय की उपमान रूप से अभेद की संभावना की जाती है ।

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो: । का. प्र.
संभावनामथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।। का. प्र.

अलंकादप्पण का उत्प्रेक्षा का लक्षण भामह के उत्प्रेक्षा लक्षण से भी तुलनीय है। भामह का लक्षण है -

अविवक्षित सामान्या किञ्चिदुपमया सह ।
अतदगुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ।। काव्य. २/९१।।

ओपेक्खा जहा (उत्प्रेक्षा यथा)

दीसइ पूरिअ संखो व्व मलअ-मारुअ-णरेंद-संचलणे ।
दर-दलिअ-मल्लिआ-मउल-लग्ग-मुह-गुञ्जिरो भमरो ।।११४।।
दृश्यते पूरितशङ्ख इव मलय-मारुत-नरेन्द्र-सञ्चलने ।
दरदलितमल्लिकामुकुललग्नमुखगुञ्जितो भ्रमर: ।।११४।।

ईषत् खिले हुए मल्लिका पुष्प के मुकुल में मुख लगा कर गुञ्जार करने वाला भ्रमर ऐसा प्रतीत होता है मानों मलय पवन रूपी राजा के चलते समय बजाया गया शंख हो।

यहाँ पर भ्रमर उपमेय है और पूरितशङ्ख उपमान है । भ्रमर में पूरितशङ्ख के अभेद की संभावना होने के कारण उत्प्रेक्षालंकार है । 'इव' शब्द यहाँ पर उत्प्रेक्षाव्यञ्जक है क्यो कि यह उपमान लोक सिद्ध नहीं है । पूरितशङ्ख तो वस्तुत: लोक सिद्ध है किन्तु मलय पवन रूपी राजा के चलने में शंख नहीं बजाया जाता इसीलिये लोक में असिद्ध उपमान के कारण उत्प्रेक्षा है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसिद्धि (संसृष्टि)तथा आशी अलंकार का लक्षण

विविहेहिं अलंकारेहिं एक्क-मिलिअेहिं होइ संसिट्ठि ।
आसीसालंकारं आसिव्वाअं चिअ भणंति ।।११५।।
विविधैरलंकारैरेकमिलितैर्भवति संसिद्धिः (संसृष्टिः) ।
आशीरलंकारमाशीर्वादञ्चैव भणन्ति ।।११५।।

जहाँ विविध अलंकार मिलकर एक ही स्थल पर रहते हैं उसे संसिद्ध (संसृष्टि) अलंकार कहते हैं । आशीर्वाद को ही आशी: अलंकार कहते हैं ।

जहाँ पर अनेक अलंकारों का तिलतण्डुलवत् निरपेक्षरूप से सहावस्थान होता है वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है । जैसे -

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा और उत्तरार्ध में उपमालंकार परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित हैं । इसके विपरीत जहाँ पर अनेक अलंकारों का नीरक्षीरन्यायेन परस्पर सापेक्षरूप से सहावस्थान होता है उसे 'संकर' अलंकार कहते हैं । यह संकर-संसृष्टि का भेद परवर्ती आलंकारिकों द्वारा किया गया है । आचार्य भामह तथा अलंकारदप्पणकार संकरालंकार नहीं मानते और विविध अलंकारों के योग में संसृष्टि ही मानते हैं । भामह की कारिका है -

वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः ।। काव्या० ३/४९ ॥

संसिट्ठी जहा (संसिद्धिर्यथा)

तुज्झ मुहं ससिमुहि! तुह मुहं णवपल्लव-कर-चलणा ।
थणआ सुहजल कलसोव्व सुन्दरा कं ण मोहंति ।।११६।।
तव मुखं शशिमुखि तव मुखमिव नवपल्लवकरचरणाः ।
स्तनाः शुभजलकलश इव सुन्दराः कं न मोहयन्ति ।।११६।।

हे चन्द्रमुखी ! तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के ही समान है । नए किसलय के समान (सुकुमार) हाथ और चरण हैं । (तुम्हारे) दोनों स्तन शुभजल के कलश के समान सुन्दर किसको मोहित नहीं करते ।

यहाँ पर प्रथम चरण में अनन्वय अलंकार है । यद्यपि ग्रन्थकार ने अनन्वय अलंकार नहीं बताया है । ग्रन्थकार के द्वारा दिये गए असमा उपमा अलंकार से अमन्वय अलंकार तुलनीय है । द्वितीय चरण तथा तृतीय चरण में उपमा अलंकार है । अत: अनेक अलंकारों के सहावस्थान के कारण यह संसिद्धि (संसृष्टि) अलंकार है।

आसीसा जहा (आशीर्यथा)

आसीसं तातस्सइ (वि) सअल-कलुसाइं तुम्ह णासंतु ।
दिअ-गुरु-तवसि-कुआरिं सइअण-सुणएहिं दिण्णाइं ।।११७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशिषस्तातस्यापि सकलकलुषाणि तव नाशयन्तु ।
द्विजगुरुतपस्विकुमारस्वजनसुजनैः दत्ताः ।।११७।।

ब्राह्मण, गुरु, तपस्विकुमार, स्वजन तथा सज्जनों के द्वारा दिए गए तथा पिता द्वारा भी दिए गए आशीर्वाद तुम्हारे समस्त पापों को नष्ट करें ।

यहाँ पर आशीर्वाद का कथन करने के कारण आशी: अलंकार है ।

'आशी:' अलंकार को आचार्य दण्डी ने माना है । उनका लक्षण उदाहरण है-

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ।। काव्या० २/३५६

आचार्य भामह भी इसे अलंकाररूप में स्वीकार करते हैं यह कहते हुए कि कुछ लोगों ने आशी: को भी अलंकार माना है । किन्तु परवर्ती आलंकारिक इसे अलंकार नहीं मानते। इसे प्राय: नाट्यालंकार के रूप में स्वीकार करते हैं । आचार्य कुन्तक ने इसके अलंकारत्व का खण्डन किया है ।

उपमारूपक तथा निदर्शना अलंकार का लक्षण

उवमारूवअमेअं विरइज्जइ जत्थ रूवए उवमा ।
णिअरिसणा हु विसिट्ठा चन्दा चिअ उवमारहिआओ ।।११८।।
उपमारूपकमेतद् विरच्यते यत्र रूपके उपमा ।
निदर्शना खलु विशिष्टा 'चन्द्र इव' उपमारहिता ।।११८।।

जहाँ पर उपमा में रूपक की रचना की जाती है उसे 'उपमारूपक' अलंकार कहते हैं । निदर्शना एक विशिष्ट उपमा है जहाँ पर 'चन्द्र इव' इत्यादि उपमा प्रयोग का अभाव होता है ।

उवमारूवअं जहा (उपमारूपकं यथा)

संपेसिअ णअण-सरा रसणा-रव-तरल-मिलिअ-घर-हंसा ।
खलिअ-जुआणा पसरइ मम्मह धाडिव्व धवलच्छी ।।११९।।
संप्रेषित नयनशरा रशना रव तरल मिलितगृहहंसा ।
स्खलितयुवाना प्रसरति मम्मथ धाटीव धवलाक्षी ।।११९।।

नेत्र रूपी बाणों को फेंकने वाली, करधनी के शब्द से चञ्चल तथा एकत्र हुए घरेलू हंसों वाली, युवकों को धैर्यच्युत करने वाली कामदेव के आक्रमण की तरह धवलाक्षी (धवलनेत्रों वाली) चल रही है ।

यहाँ पर हंस पद में श्लेष है । इसके दो अर्थ हैं- हंस और अश्व ।

"हंस: स्यान्मानसौकसि । निर्लोभविष्णवर्क परमात्मनि मत्सरे ।
योगिभेदे मन्त्रभेदे शारीरमरुदन्तरे तुरङ्गमप्रभेदे च" इति मेदिनी ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नायिका की करधनी के शब्द से चञ्चल हुए पालतू हंस उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं । वे हंस ही कामदेव के आक्रमण में चलने वाले अश्व हैं । उसके नेत्र बाण हैं। इस प्रकार उसके आक्रमण से युवकजनों का धैर्य टूट जाता है ।

यहाँ पर 'नयलशरा' में रूपक है तथा 'मिलितगृहहंसा' में भी श्लिष्ट रूपक है और मन्मथघाटीव में उपमा है इसलिये यह उपमारूपक अलंकार का उदाहरण है।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में उपमारूपक का यह लक्षण दिया है -

इष्टं साधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाद्गौणमुख्ययोः ।
उपमाव्यतिरेकाख्यं रूपकद्वितयं यथा ।। काव्यादर्श २/८८

गौण (अप्रस्तुत) तथा मुख्य (प्रस्तुत) में साधर्म्य दिखाने से उपमारूपक होता है तथा वैधर्म्य दिखाने से व्यतिरेकरूपक होता है । उपमारूपक का दण्डी ने यह उदाहरण दिया है -

अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः ।
संनद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति ।।२/८९

उपमारूपक अलंकार प्राचीन आलंकारिक भामह, दण्डी तथा वामन द्वारा मान्य है।

णिअरिसणं जहा (निदर्शनं यथा)

दावन्ति जलहरा सअल दंसण-वहं समारूढा ।
खण-विहडन्त-घण-समुल्लई रह अ काल-कीडाओ ।।१२०।।
द्रवन्ति जलधराः सजल दर्शनपथं समारूढाः ।
क्षणविघटद्घनसमुन्नतिः रहस्यकालक्रीडातः ।।१२०।।

जलयुक्त दृष्टिपथ में आए हुए मेघ तितर-वितर हो जाते हैं । क्षणभर में ही विघटित होने वाले मेघों की समुन्नति रहस्यमयी कालक्रीड़ा के कारण है।

यहाँ पर मेघों का तितर-बितर हो जाना प्रस्तुत पक्ष है और कालक्रीड़ा अप्रस्तुत। दोनों का परस्पर उपमानोपमेय भाव में पर्यवसान होता है । इवादि के द्वारा उपमा का कथन नहीं है । अत: इसका पार्यन्तिक अर्थ होगा - जिस प्रकार काल क्षणभर में ही उत्थान पतन कर देता है उसी प्रकार मेघ भी आकाश में क्षणभर में ही उमड़ते हैं और तितर-वितर हो जाते हैं ।

उत्प्रेक्षावयव अलंकार का लक्षण

होइ सिलेस छलेणं मज्जंता (ती?) रूअअेण अफुडेण ।
उप्पेक्खा, एसा सुआ उप्पेक्खावअव-णामा हु।।१२१।।
भवति श्लेष-च्छलेन मज्जद्रूपकेनास्फुटेन ।
उत्प्रेक्षा एषा श्रुता उत्प्रेक्षावयवनाम्नी खलु ।।१२१।।

श्लेष के व्याज से अन्तर्निगूढ अस्पष्ट रूपक (उपमानोपमेयाभेदरूप) से उत्प्रेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जाती है तब यह उत्प्रेक्षा उत्प्रेक्षावयव नाम से सुनी जाती है ।

आचार्य दण्डी ने उत्प्रेक्षावयव को उत्प्रेक्षा का भेद माना है ।

'उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च'' । काव्यादर्श २/३५९

उत्प्रेक्षावयव की अलंकारता भामह तथा अलंकारदप्पणकार के अतिरिक्त किसी अन्य आलंकारिक को मान्य नहीं है । दण्डी के कथन से कुछ ऐसी संभावना होती है कि वे उत्प्रेक्षावयव को भिन्न अलंकार न मानकर उत्प्रेक्षा का ही भेद मान रहे हैं । रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु का कहना है कि उत्प्रेक्षा में उपमान और उपमेय में भेदाभेद विवक्षित होता है । परमार्थत: तो रूपक और उत्प्रेक्षा में अभेद ही होता है -

उत्प्रेक्षायां तु छद्मलक्ष्मव्याजव्यपदेशादिभि: शब्दैरुपमानोपमेययोरभेदो भेदश्च विवक्षित: इति। परमार्थतस्तु उभयत्राभेद एवेति ।।

आचार्य भामह ने उत्प्रेक्षावयव का यह लक्षण दिया है -

श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्त: किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वित: ।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ।।

उप्पेक्खावअवो जहा (उत्प्रेक्षावयवो यथा)

सम-विअसण-संपुण्ण-वणेण कुसुमाण रआणि-विरमंमि ।
उज्जोवइ हअ-चंदु-दोइ-क्खेण व पइट्ठो ।।१२२।।

रात्रि समाप्त होने पर चन्द्रमा पदार्थों को प्रकाशित करता है..... ऐसा लगता है जैसे जंगल फूलों से भरा हो और सभी फूल एक साथ पुष्पित हुए हों ।।१२२।।

(सम्पादक)

उद्भिद् अलंकार का लक्षण

सो उब्भेओ वत्थूण जत्थ वत्थूहि होइ उब्भेओ ।
अभणिअ किं-पअ-गब्भो बिइओ तण (ह) णूण-सद्देण ।।१२३।।
स उद्भेद इवास्तु यत्र वस्तुभि: भवति उद्भेद: ।
अभणित्वा किं-पद-गर्भोऽपि तथा नूनं शब्देन ।।१२३।।

जहाँ वस्तु कथन द्वारा किसी का उन्मीलन-सा होता है वह उद्भेद अलंकार है । उसमें किंपद के न कहने पर वह किंपदगर्भित (अन्तर्निगूढ) रहता है और उसी प्रकार 'नूनं' शब्द के कथन से भी (दूसरे प्रकार का उद्भेद होता है)

उब्भिओ भणिओ किंपअगब्भो जहा

(उद्भेदो भणित: किंपदगर्भो यथा) -

आली विअच्छणं साल (लेणा) णीअं हलिअस्स अमुणिअ-रसस्स ।
णिव्वासिअ सिर-वीर-मिच्छूणं मुहं विअड्ढेणं ।।१२४।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलि ! विचक्षणं श्लाघनीयं हालिकस्याज्ञातरसस्य ।
निर्वासितशिरोवीरमिक्षूणां मुखं विवर्तेन ।।१२४।।

हे सखि! गन्नों (ईख) का मुख फाड़ने से (छिलका निकालने से) शिरस्त्राणविहीन वीर के समान वह विलक्षण और श्लाघनीय हो जाता है किन्तु अज्ञातास्वाद वाले किसान को इससे क्या ।

यहाँ पर 'किम्' पद गूढ नहीं कहा गया है। अत: इसके कथन से इसका अर्थ होगा 'अज्ञातरसस्य हालिकस्य अनेन किम्' । इसे प्रकारान्तर से अन्योक्ति भी कहा जा सकता है।

णूणं सद्दे जहा (नूनं शब्दे यथा)

दर णिग्गअं ण पेच्छइ णूणं सहआर-मञ्जरी अज्ज ।
तेण तुह वच्छ लोअणं अहिओ (अं) वह (इ) मुहअंदं ।।१२५।।
दूरनिर्गतां न प्रेक्षते नूनं सहकारमञ्जरीमद्य ।
तेन तव वत्स लोचनमभिकोपं वहति मुखचन्द्रः ।।१२५।।

हे वत्स थोड़ी-सी निकली हुई आम्रमञ्जरी को निश्चय ही तुम्हारे नेत्र अभी नहीं देख पा रहे हैं। इसीलिये तुम्हारा मुखचन्द्र कोप से व्याप्त है । आम्रमञ्जरी कामदेव का बाण होने से कामोद्दीपक है और मान को समाप्त करने वाली है । इस सन्दर्भ में काव्यादर्श का यह पद्य तुलनीय है -

मधुरेण दृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना ।
सहकारोद्गमेनैव शब्द शेषं करिष्यति ।। ३/२०

उद्भेदालंकार एक अप्रसिद्ध अलंकार है । इसे अन्य आलंकारिकों ने नहीं स्वीकार किया है । केवल शोभाकरमिश्र के अलंकाररत्नाकर में इसे इस रूप में कहा है - "निगूढस्य प्रतिभेद उद्भेद:"

वलितालंकार तथा उत्तरार्ध यमकालंकार का लक्षण

वर (रं)-वअण-पालणं किं-पएण सहि (ह) रिसणं खु-वलअत्ति।
जमअं सुइ समभिण्णत्थ वअणे पुणुरुत्तआ भणिअ ।।१२६।।
वरवचनपालनं किंपदेन सहर्षणं खलु वलय इति ।
यमकं श्रुतिसमभिन्नार्थवचने पुनरुक्तता भणितम् ।।१२६।।

'किंपद' के (प्रयोग) द्वारा हर्ष दिलाने वाले श्रेष्ठ वचन का कथन वलय अलंकार है और भिन्न अर्थ वाले समान शब्दों की पुनरुक्ति यमक अलंकार है ।

वलिआलंकारो जहा- (वलितालंकारो यथा)

किं नु रुअेण हला रूअस्स स सामणी णिव्व सत्तीअे।
अस्सा (स्स) ओच्छअ धइओ तस्स अ पाएसु पडिआओ ।।१२७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं नु रूपेण हला रूपस्य श्रामणिकेन सत्त्वेन ।
अश्रूत्सवधृताः तस्य च पादेषु पतिताः ।।१२७।।

हे सखी! रूप से क्या होता है? रूप के सम्बन्धी श्रमणोचित सात्त्विक गुण द्वारा ग्रहण की गई स्त्रियाँ आँसू बहाती हुई उसके पैरों पर गिरती हैं ।

यहाँ पर 'किम्' पद द्वारा रूप की हेयता और सात्त्विकगुण की उपादेयता का श्रेष्ठ कथन करने के कारण वलितालंकार है ।

आई-मज्झन्त-गअं पाअ (ब) भासो तहावलि-णिबंधो ।
णीसेस-पाअ-रइअं जाइ जमअं अ पंच-विहं ।।१२८।।
आदि मध्यान्तगतं पादाभासं तथावलिनिबन्धम् ।
निश्शेषपादरचितं याति यमकं पञ्चविधम् ।।१२८।।

आदि, मध्य, अन्त पादगत पादाभ्यासगत, आवलिगत तथा सभी चारों पादों में विरचित यमक अलंकार पाँच प्रकार का होता है ।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में यमकालंकार का भेदोपभेद सहित विस्तार से वर्णन किया है । उन्होंने यमक का यह लक्षण दिया है -

अव्यपेतव्यपेतात्मा या वृत्तिवर्णसंहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।।काव्यादर्श ३/१।।

अलंकारदप्पणकार ने भी पादादि, पादमध्य, पादान्तगोचर यमक को स्वीकार किया है । दण्डी ने यमक को ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद में बताया है। द्वितीय परिच्छेद में बताने का कारण देते हुए वे कहते हैं -

आवृत्तिमेव संघातगोचरां यमकं विदुः ।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ।। काव्यादर्श २/६१

अलंकारदप्पण का यमक लक्षण तथा भेदविवेचन आचार्य भामह के लक्षण एवं भेदों से पूर्ण साम्य रखता है । भामह ने यमकालंकार के भेदों को इस रूप में बताया है-

आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली ।
समस्तपादयमकमित्येतत्पञ्चधोच्यते ।।काव्यालंकार२/९।।

पाआइ जमअं जहा (पादादि यमकं यथा)

मा णं[1] माणं हारेहिं णिद्दअ-दइए अह सालूरी ।
गअणाहगेअ (अं) साणासा सासाउरा रमिअं ।।१२९।।
मा ननु मानं हारयत निद्रायितमर्द्धशार्वरी ।
निद्राधूर्णित नासाश्वासा सातुरा रमितम् ।।१२९।।

---

१. णं नन्वर्थें ८/४/२८३ शौरसेन्यां नन्वर्थें णमिति निपातः प्रयोक्तव्या- शब्दानुशासन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस का अर्थ अस्पष्ट है । फिर भी ऐसा आभासित हो रहा है । कवि कहता है - हे नायिके ! तुम प्रिय के सामने अपना मान न छोड़ो । उसे अच्छी तरह से प्यार करो भारी सांस से जो नासिका से निकल रही हो ।।१२९।। **(सम्पादक)**

यहाँ पर 'माणं माणं' में यमक है । पहला 'मा' केवल निषेधार्थक है । दूसरे 'मान' शब्द का गर्व अर्थ है ।

मज्झन्त जमगं जहा (मध्यान्तयमकं यथा)

जस्स पवंगमेहिं खअ-समं दिट्ठं तण्हाइएणं णिच्चिरं चिरं ।
विमल-प्फुरंतर-रअण-विज्जुज्जलं जलं महीहरा धाअ-विसरंत-अंतअं ।।१३०।।

उक्त श्लोक में 'सम समं' तथा 'चिरं चिरं' मध्य में और 'जलं जल' अन्त में यमक होने से मध्यान्त यमक है ।

पादाभ्यासगत यमक का लक्षण

सेऊ-बद्ध-समुद्दं तरल लवम्मणं पादं भासे जमअं जहा ।
कंदारा घणवारिअं ओव्वं अं पणअ णालअं ।।१३१।।

आवली जमओ जहा (आवलीयमकं यथा)

हं भो रंविज्जल-पजल-पजल-णि-ब्भरे णिब्भरेऊणं ।
सा सा सा मे सा सा मं स अमोतुं कलिओ ।।१३२।।

आवलियमक में यमक शृङ्खलाबद्ध रहता है यथा उपर्युक्त स्थल में जल, पजल, पजल, पजल णिब्भरे णिब्भरे, सा सा सा इत्यादि ।

इस प्रकार के यमक का सुन्दर उदाहरण जयरथ की विमर्शिनी टीका में मिलता है जो इस प्रकार है -

साहारं साहारं साहारं मुणइ सज्ज साहारं ।
सं ताणं संताणं संताणं मोहसन्ताणं ।।

(साहारं संहारं सहकारं मन्यते साध्वसाहारणम् ।)

सन्नाणं सतां सन्तानं मोहसन्तानम्

सअलपद जमअं जहा (सकलपदयमकं यथा)

तुह कज्जे साहसिआ केण कआ वंदणेण साहसिआ ।
भणिऊण सा-हसिआ सहिआहि फुडं सा हसिआ ।।१३३।।
तव कार्ये सा हसिता केन कृता वन्दनेन साहसिका ।
भणित्वा सा-हसिका सरनीभिः स्फुटं सा हसिता ।।१३३।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ पर चारों पादों में 'साहसिआ' के रहने से सकलपद यमक है ।

अंसे विऊण असेसाणं होंति समग्ग अधिणो कव्वे ।
तेण वि अण्णो भावो पएसो चेअ दट्ठव्वो ।।१३४।।
अंशान् विज्ञायाशेषाणां भवन्ति समग्राधीनाः काव्ये ।
तेनाप्यन्यो भावः प्रदेशश्चैव द्रष्टव्यः ।।१३४।।

काव्य में (अलंकारों के) अंश को जानकर समग्र का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार अन्य (अलंकारों की) सत्ता और उनका विभाजन भी देखना चाहिये ।

इति अलंकारदप्पणं सम्मत्तं

शुभं भवतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Our Important Publications

1.	Studies in Jaina Philosophy	Dr. Nathamal Tatia	200.00
2.	Jaina Temples of Western India	Dr. Harihar Singh	300.00
3.	Jaina Epistemology	Dr. I.C. Shastri	350.00
4.	Concept of Pañcaśīla in Indian Thought	Dr. Kamla Jain	150.00
5.	Concept of Matter in Jaina Philosophy	Dr. J.C. Sikdar	300.00
6.	Jaina Theory of Reality	Dr. J.C. Sikdar	300.00
7.	Jaina Perspective in Philosophy & Religion	Dr. Ramji Singh	200.00
8.	Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)		2500.00
9.	An Introduction to Jaina Sādhanā	Prof. Sagarmal Jain	40.00
10.	Pearls of Jiana Wisdom	Dulichand Jain	120.00
11.	Scientific Contents in Prakrit Canons	Dr. N.L. Jain	400.00
12.	The Heritage of the Last Arhat : Mahāvīra	Dr. C. Krause	25.0
13.	The Path of Arhat	T.U. Mehta	200.0
14.	Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	500.0
15.	The World of Non-living	Dr. N.L. Jain	400.0
16.	अष्टकप्रकरण	अनु.-डॉ.अशोक कुमार सिंह	200.0
17.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		1400.0
18.	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		1180.0
19.	जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी	300.0
20.	वज्जालग्गं (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	160.0
21.	प्राकृत हिन्दी कोश	सम्पा.-डॉ. के.आर. चन्द्र	400.0
22.	जैन धर्म और तान्त्रिक साधना	प्रो. सागरमल जैन	350.0
23.	गाथा सप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	150.0
24.	सागर जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड)	प्रो. सागरमल जैन	450.0
25.	गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो. सागरमल जैन	60.0
26.	भारतीय जीवन मूल्य	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	150.0
27.	नलविलासनाटकम्	सम्पा.- डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे	60.0
28.	अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद	डॉ. राजेन्द्र कुमार सिंह	150.0
29.	दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.0
30.	पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)	अनु.- डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.0
31.	सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय	100.0
32.	जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ	हीराबाई बोरदिया	300.0
33.	मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म	डॉ. (श्रीमती) राजेश जैन	350.0
34.	भारत की जैन गुफाएँ	डॉ. हरिहर सिंह	150.0
35.	महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	150.0
36.	मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. फूलचन्द जैन	160.0
37.	बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	350.0
38.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ. शिवप्रसाद	300.0
39.	अचलगच्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	300.0
40.	तपागच्छ का इतिहास, भाग-1, खण्ड-1,	डॉ. शिवप्रसाद	500.0

Pārśwanātha Vidyāpiṭha, Varanasi-221005 INDIA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org